

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182157

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No.

#83/S11B

Accession No.

4272

Author

अथर्ववेद, अथर्वसंहिता

Title

श्री ५११ ३५५५
This book should be returned on or before the

This book should be returned on or before the date last marked below.

10-2-4

प्रतिभा प्रकाशन सं०-२

भटकती आत्मा

लेखिका :

कंचनलता सब्बरवाल एम०ए०,
प्रिंसिपल
महिला कालेज, लखनऊ

प्रकाशक :

प्रतिभा प्रकाशन गृह
१३ कचहेरी रोड,
देहरादून

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

- १—भास्कर प्रेस, १३ कचेहरी रोड, देहरादून.
- २—साहित्य सदन, पल्टन बाजार, देहरादून ।
- ३—आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरीगेट दिल्ली ।

प्रथमवार }
१५०० }

सर्वाधिकार सुरक्षित

सन् १९५१

{ मूल्य सजिल्द ३॥
अजिल्द ३ }

मुद्रक :
सुमेध कुमार
भास्कर प्रेस,
देहरादून ।

श्रमपर्णा

उन्हें जो सूर्य की प्रथम किरण के दीख
पड़ते ही कठोर परिश्रम में जुट जाते हैं
और सन्ध्या की अरुणिमा भी जिन्हें
तृप्तिकी इवास लेते नहीं देख
पाती— फिर भी जो
निरन्तर श्रम किये ही
जाते हैं……क्यों……?
किस लिए……??
कौन जाने
… ???



—कंचन

फिर कह ही हूँ ?

किन्तु क्या कहूँ ? पिछले अनेक वर्षों से विश्व के इस विस्तृत प्रांगण में श्वास ले रही हूँ, जीवित हूँ और जीवित होने के नाते अपने आसपास के जगत वातावरण में बिखरी धूलि कणिकाओं से भी परिचित हो ही जाती हूँ, इच्छा से अथवा अनिच्छा से। परिचित हो जाने पर कल्पना बलवती हो उठती है और उन कणिकाओं में रंग सा भरने लगती है, सरस अथवा नीरस। जब वह एकत्रित होकर, रंगीन होकर सम्मुख खड़ी हो जाती हैं तो उन्हीं का नाम हो जाता है 'चित्रित घट' और उसी को सब कोई कहने लगते हैं 'आख्यायिका', 'उपन्यास', 'कहानी' और न जाने क्या क्या ? किन्तु मैं तो उसे अपनी चिरप्रिय 'रज कणिका' के रूप में ही जानती हूँ जो मुझे मेरी कल्पना को जीवित रखने के लिए रस प्रदान करती है, इसमें अधिक वह सब क्या है, मैं नहीं जानती। प्रस्तुत 'भटकती आत्मा' भी ऐसी ही रज कणिकाओं द्वारा निर्मित घटमात्र ही है, इससे अधिक और कुछ भी नहीं।

इस कुछ भी न होने के...अभाव जन्य हीनता के सत्य को चाहती थी कि अवगुण्ठन में ही रहने दूँ किन्तु वह हो तो सका नहीं, अतः कह ही तो दिया, 'भटकती आत्मा' आपके सम्मुख है। बस अब और क्या कहूँ ?

लखनऊ }
२ जनवरी १९५१ }

—कंचनलता सबरवाल

सरिता के तट पर

:: १ ::

धूमिल अन्धकार की छाया के पृथ्वी पर पड़ने से पूर्व जो सूर्य की दो चार सुनहरी किरणें सरिता के चमचमाने जल में पड़ती हुई दुगुनी चौगुनी और पंचगुनी सी होती जाती हैं, उन्हीं पर खुली हुई पलकों को टिकाती हुई वह एकाकी नारी खड़ी रही । जान पड़ता था किसी चतुर शिल्पी ने सरिता के तट पर उसकी शोभा को काँव कल्पना में निरन्तर जीवित रखने के लिए ही उसे निर्मित किया है । कुछ देर तक उसी प्रकार स्थिर भाव से खड़े रहने के पश्चात् जब उसने आँखें पसार कर डूबते हुए रवि का अपने अश्रुपूर्ण नयनों से ढक लेना चाहा, तब ही उसे किसी हलकी सी कराहट का शब्द सुन पड़ा । नारी अचल थी, अडिग थी; उसके शरीर भर में मानो स्पन्दन कर सकने वाली कोई वस्तु थी ही नहीं । वह उसी प्रकार स्थिर भाव से सरिता के जल में पड़ने वाली किरणों का अनुसरण सा करती हुई, सूर्य की अन्तिम विस्तृत लालिमा को नेत्रों में भरती रही । कराहट की ध्वनि इस बार कुछ तीव्र भी थी और कुछ अधिक करुणाजनक भी । रमणी कुछ हिली और फिर स्वयं ही बड़बड़ा उठी— “किन्तु मुझे क्या ? कोई कराहता है तो कराहे; मेरी ही कराहट कब किसने सुनी थी । आज जीवन के अन्तिम क्षणों में मुझे यह मोह क्यों हो ? नहीं, नहीं, मैं अब किसी भी मोह में नहीं फसूंगी ।” इस बार नारी कुछ हिली और

स्थिर दृष्टि से सूर्य की ओर देखती हुई नदी के तट की ओर बढ़ी । सूर्य अस्त हो चुका था, किरणों का जल पर क्रीड़ा करना भी बन्द हो चुका था । रवि की लालिमा के स्थान पर आकाश कालिमा से भर गया था । युवती कुछ आगे बढ़ी, उसकी साड़ी का लम्बा पल्ला कुछ रेत में लिथड़ता सा चल रहा था । उसकी उदास मुद्रा कुछ कटु, करुण शान्ति की प्रतीक सी थी । नदी का तट अभी फलींग दूर था । युवती की चाल बढ़ी हो धीमी थी । अन्धकार बढ़ता ही जा रहा था । युवती को अचानक ठोकर सी लगी । वह लापरवाह सी तो थी, पर ठोकर के साथ ही जो करुण ध्वनि कानों में पहुँची, युवती उस से अपने आप को उदासीन न रख सकी । मानव की जिज्ञासा वास्तविक है और उदासीनता कृत्रिम । अचानक धक्का लगने से कृत्रिम उड़ गया और वास्तविक, स्वाभाविक आ गया । निर्भय सी वरबस कठोर बनी हुई, वह नारी अपने नारीत्व में लौट आई । उसने झुक कर टटोला, अन्धकार अभी भी प्रगाढ़ न था; दृष्टि ने भी साथ दिया । “खून” ढेर सा “भयानक सा चेहरा” दुर्गन्ध जलने की दुर्गन्ध से युक्त शरीर । इस से पूर्व युवती का इस प्रकार की वस्तुओं से परिचय ही न था । वह डर गई किन्तु सम्भल गई । कुछ झुक कर उसने उस मछली सी तड़फती हुई भयानक वस्तु से मित्रता करना चाही । दो काले ओठ धीरे धीरे धीमी धीमी कराहट के बीच कभी कभी कह उठते थे ‘पानी’ । मन ही मन युवती हंस पड़ी, घनी निराशा में भी ओह पानी, सब ही को पानी की खोज है, मैं भी तो प्यासी, चिर प्यासी हूँ, मैं भी तो पानी की ही खोज में हूँ ।’ न जाने कहाँ से युवती के पैरों में पर लग गये । आधे फलींग की दूरी मिनटों में पार हो गई । युवती का लम्बा सुन्दर आंचल जल में था । नदी के आस पास कीचड़ था, फिर भी युवती क्या पीछे हट सकती थी । घुटनों तक कीचड़ में

धंसे हुये पैर और साड़ी का लम्बा भीगा हुआ पल्ला लिए हुये वह फिर उसी ओर दौड़ी। इस बार प्रकाश और भी कम था। युवती में भय की कमी भी न थी। फिर भी उसे चिन्ता क्या थी ? वह तो आज नदी का वरण करने आई ही है, फिर क्यों न एक उपकार करती चले। क्षणिक को युवती अपना इतनी दूर आने का उद्देश्य भूल गई। नीचे पड़े हुये व्यक्ति का भयानक जला हुआ चेहरा भी भूल गई और भूल गई अपने हृदय का भय भी। उसने घुटने रेत पर टेक कर उस पड़े हुये व्यक्ति के कराहते हुये मुख को उठाया और साड़ी का थोड़ा सा भाग उसके मुख में निचोड़ दिया। विचार करने का समय न था। युवती उसी प्रकार सिर अपने घुटनों पर रखे रात्रि के घने अन्धकारमय पर्दे के पीछे छिपे हुये उस अभागे मानव के मुख में रह रह कर जल की बूंदें टपकाती रही। बीस एक मिनट इसी प्रकार बीते—अन्धकार भी भली प्रकार छा गया। देर करने का समय ही कहां था ? युवती को भी अपना निश्चय याद आगया। धीरे से सिर को नीचे रखने का उसने यत्न किया। “ओह”, कराहट बढ़ी ही करुणाजनक थी। शायद वह प्राणी कुछ चेतन भी हो रहा था। “तुम कौन ?” उसने लड़खड़ाते हुये कहा।

गिरे हुये पर हम दया करते हैं, मरते के लिये हमारे हृदय में करुणा होती है किन्तु अपने उदासीनता के क्षणों में किसी का भी अभिमन्त्रित रूप से परिचय बढ़ाने का प्रयत्न हमें खल जाता है। युवती चिढ़ उठी, सिर पृथ्वी पर रख कर वह चलने लगी।

“ओह सुनो तो” बढ़ी ही करुण विनती थी। भले ही ऊपर से युवती का जो भी निश्चय रहा हो किन्तु उन्नीस वर्ष की उस युवती में संसार, संसार के प्रत्येक प्राणी से परिचय बढ़ाने की इच्छा शायद पर्याप्त मात्रा में रही होगी ही। निमन्त्रण लुभावना था।

“तुम कौन हो ? क्या चाहते हो ? हाँ क्या चाहते हो सो ही बताओ, कौन हो का मैं क्या करूंगी ?” जान पड़ता था जैसे वह अपने आप से ही कह रही हो, किन्तु मुख उस व्यक्ति पर झुक गया था । शायद स्वर ने युवती का परिचय दे दिया । इस बार दूसरी ओर स्वर नम्र, अति नम्र था ।

“आप कोई जी क्यों न हो ? भारतीय तो हैं । क्या मुझे पास ही किसी सूखे स्थान पर ले जा सकती हैं ?” स्वर धीमा और शब्द अटकते से थे ।

युवती का जी चाहा कि उस मृतप्रायः व्यक्ति को ठोकर मार कर स्वयं भी गंगा की प्रशान्त गोद में जाकर सो रहे, पर वैसा कर न सकी । गीले पत्ते का ध्यान छोड़कर उसे अबटूबर की ठंडी रात में गंगा की अधगीली ठंडी बालु का ध्यान हो आया और दूसरी ओर वह असहाय व्यक्ति । बिना बोले-चाले उसने आहिस्ता से उस भारी शरीर को हिलाना चाहा । युवती शीघ्र ही जान गई कि शरीर भारी नहीं है । अन्धकार में सुभ्रता कुछ भी न था, फिर भी कठिनाई से खड़ा कर सकने पर, वह शरीर उसे अपने शरीर से कुछ बहुत अधिक लम्बा नहीं जान पड़ा । जैसे तैमे किसी प्रकार खींच घसीट कर युवती उस मानव जैसे शरीर को कोई दो फर्लांग की दूरी पर पेड़ के नीचे पहुँचा सकी । इसी पेड़ के नीचे कोई दो घण्टे पूर्व वह किराये के तांगे में आई थी । इसी पेड़ के नीचे उसने अपनी काश्मीरी पश्मीने की शाल को व्यर्थ की वस्तु समझ कर फेंक दिया था । घने सुनसान अन्धकार में वह रमणी किसी प्रकार अपनी शाल ढूँढ ही सकी । कुछ थोड़े से सूखे पत्ते जिन्हें कि वह अन्धरे में ढूँढ पाई, उसने इकट्ठे करके उस पर उस व्यक्ति को लिटा दिया । ऊपर से काश्मीरी शाल लपेट

युवती इस बार कुछ अपने पन के भाव से बोली—“तुम मानद, चोर, डाकू अथवा कोई भी क्यों न हो, आज का हमारा पारचय बस अथ इतना ही रहेगा । बस ।”

नीचे पड़े हुये व्यक्ति ने खड़ी हुई स्त्री से कहा, आदर और स्नेह भरे स्वर में—“देवी आप कोई भी क्यों न हों, आपको यूँ सहज ही न छोड़ूंगा । अभी आपका अपने इस अभागो भाई पर और भी कृपा करनी होगी ।” स्वर में अधिकार का सम्बल इतना अधिक था कि इच्छा करके भी युवती इन्कार न कर सकी ।

“देवि, विश्वास करो, मुझ पर किया गया आपका उपकार कुपात्र की झोली में डाला हुआ दान न होगा । आप तनिक सी कृपा और करें, शायद यह गंगा है । यहां से ठीक दक्षिण की ओर आपको एक झोंपड़ी मिलेगी । उसमें एक दीपक जल रहा होगा । आप निर्भय भाव से भीतर जाकर दीपक बुझा दें । थोड़ी ही देर बाद आपको एक पन्द्रह सोलह वर्ष का बालक आपकी ओर एक दूसरा दीपक लेकर आता हुआ दीख पड़ेगा ।”.....कण्ठ रुक गया । युवती ने पहले से थोड़ा सा जल कण्ठ में डाला । युवक फिर कहने लगा—“उससे आप यह कह दें कि अन्नू परवाना हो गया । वह पूछेगा कहाँ ? आप कहें कि अभी तो जल-वासी है ।”

“ फिर ”

“ फिर आपकी जो इच्छा हो, करें । ”

युवती थोड़ी देर चुप ही रही, फिर तनिक दृढ़ता से बोली—
“यदि ऐसा न करूँ तो ?”

“तो आपको हत्या लगेगी ।”

“वाह, खूब”, युवती सच्चे दिल से हंस पड़ी । “यह अच्छी

गले पड़ी मुसीबत है, पर नहीं, मैं तुम्हारा काम प्रवश्य करूंगी। तुम अच्छी तरह लिपटे लिपटाये पड़े रहो, मैं दस मिनट में आती हूँ। कुटिया का मुझे कुछ कुछ ध्यान है। शायद ठीक ही रहेगा।” और युवती अन्धकार में छिप गई। युवक “आह” करके शांत हो रहा। उसके शरीर में भयंकर जलन हो रही थी, शायद सारा शरीर ही जल गया था, फिर भी वह शांत था, मन ही मन विचार भी दौड़ रहे थे—“उनका क्या हुआ होगा ? रध्नु क्या मुझे नाव पर चढ़ा कर यहां तड़फ तड़फ कर मरने के लिये छोड़ गया अथवा उमका साहस ही मुझे किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा आने का नहीं हुआ अथवा उसे किसी आवश्यक काम पर जाना पड़ा। मैं कैसे यहां आया। मैं तो कल तीन बजे रात्रि को.....जाने दो, पर गंगा.....युवती.....रात्रि.....यह सब क्या है ? काम कैसा हुआ ? अंगारा कहाँ गया ? गिरीश वहां होगा तो अवश्य। आज तीसरा दिन ही तो है। ओह कैसी जलन हो रही है। कितनी नरम है यह शाल, पर जलन भयंकर जलन।” तड़फता हुआ युवक न जाने कब अचेत हो गया। आकाश प्रगाढ़ अन्धकार से छुटकारा पाने के लिये ही मानों बालचन्द्र को बुला लाया, फिर भी अन्दर बाहर अन्धकार ही तो था।

:: २ ::

“भाभी, तुम अगले किनारे पर उतर जाना, फिर हम सीधे बनारस तक चले जायेंगे।”

“मैं भी क्यों न तुम्हारे साथ चलूँ ?”

“साथ चलूँ ?” बालिकाओं जैसी कोमल कान्ति वाला युवक हल्की सी मुस्कराहट के साथ कुछ विपत्ति में पड़ गया। थोड़ी देर

सोच कर उसने निस्संकोच भाव से कह दिया । “सच हो भाभी यदि तुम यह भार ले लो तो मैं निश्चित हो कर अगले काम में लग जाऊँ ।” युवती भी मुस्करा दी ।

“किन्तु तुम्हें मुझे इन कार्य का भार देने का अधिकार ही क्या है ?”

युवक बोला था, शायद संसार के व्यवहार ज्ञान से सर्वथा शून्य । उसने तुरन्त ही उत्तर सोच लिया ।

“यदि अधजले शरीर के स्थान पर हमारे भड़या होते तो तुम क्या करती ? तब क्या भाभी भार तुम्ही न ले लेती ?”

युवक ने, अनजाने आघात बड़े ही कोमल स्थान पर किया था । अनजाने ही उसने वह तार छू दिया था जोकि किमी प्रकार भी छनछनाहट वन्द करना चाहता ही न था । युवती की आंखों में खारा जल शायद भर आया हो पर उसने वेने ही शान्त स्वर से कुछेक क्षण चुप रह कर उत्तर दिया ।

“सो बात रहने दो गिरीश । मेरा काम था और बड़ा ही जरूरी था, पर आज उसकी अब और बात न करूंगी । तुम गांव के निकट उतर जाओ, मैं इस बालक को जहां तुम कहोगे पहुंचा दूंगी ।”

“हां, सो तो ठीक है, पर भाभी काम बड़ा ही भयंकर है ।” शायद बालक सोचने लगा कि इतना भारो भेद इस अनजान तथेक के पहले ही बनी हुई भाभी के हाथ में सहज ही दे दूं अथवा नहीं । कुछेक क्षण सोच कर बालक बोला- “भाभी, तुम्हें भाभी कह कर सचमुच बड़ा ही सुख होता है । क्यों ? जाने दो कहानियां फिर कभी इस जीवन में मिल सके तो कहूंगा, पर जो हो, तुम्हारी आज की अकारण दया और सरल ममता कभी भी न भूलूंगा । भाभी ! तुम्हारे

हाथों अपना सत्य रखे देता हूँ, सुन कर यदि तुम्हारी इच्छा हो तो इस मृत प्रायः शरीर को गंगा के अथाह जल में डाल देना ।” बालक गिरीश फिर चुप हो गया ।

“गिरीश, कहो, कहे चलो । विश्वभर में अपना कहने को मेरा कोई भी नहीं रह गया है । आज अचानक ही तुम्हारे मुख से ‘भाभी’ सुन कर मैंने जीवन का एक नया अध्याय आरम्भ किया है । उसे आज ही समाप्त कर दूंगी अथवा नहीं, नहीं जानती, फिर भी तुम्हारा काम अवश्य करूंगी, तुम्हें चिन्ता न करनी होगी...कहे जाओ ।”

“तो सुनो भाभी, तुम्हारे स्वर में विश्वास की ध्वनि है, सुनकर चौंक न पड़ना ।” स्वर बिल्कुल ही धीमा करके गिरीश ने कहा—“यह तुम्हारे सामने पड़ा हुआ शरीर ब्रिटिश सरकार का भयंकर शत्रु है । इसने सरकारी अपराध किया है और इसका प्रमाण भी इसके साथ ही है । फिर भी यह देश का बड़ा भारी मित्र है । इसके मित्र आज बड़े भारी खतरे में हैं और शत्रु आनन्द में । इसकी जान बवाना अपने प्राणों की बाजी लगा कर, तुम्हारा आज का काम होगा । साहस हो तो हाथ में लो, अन्यथा चली जाओ ।”

कथा का मध्य भाग सुन कर वह नारी समूल कांप उठी । नाव का झटका उलटता हुआ सा जान पड़ता था । फिर भी उसने स्थिर स्वर से कहा—“बचपन में मां कहा करती थी कि परिस्थितियों से, विधि के विधान से विरोध करना व्यर्थ है । तुम इसका भविष्य मेरे हाथों में दे दो । मेरे शत्रुओं की विश्व में कुछ कमी नहीं है । यदि उनकी संख्या में एक आध और भी बढ़ जाये तो भी अन्तर क्या होगा ? हां तो इसे पहुँचाना कहां होगा ?”

“यही तो समस्या है । हमारा घरबार नष्ट हो चुका है ।

आज हमारा अन्तिम स्थान भी नहीं रहा ।”

कुछ देर तक युवक निराश मुद्रा से सोचता ही रहा, फिर कुछ आशा का सम्बल सा पाकर बोला-“अपने घर न ले जाओ भाभी ।”

युवक के भोलेपन पर युवती हंस पड़ी, “तुम्हारी भाभी के कोई अपना घर होता, कोई अपना निज जन होता तो क्या वह रात्रि के बारह बजे आज तुम्हारे पास यहां नदी की छाती पर नाव पर ही बैठी होती ?”

“ठीक ही तो ! ओह भाभी फिर इसे कहां ले जायें ?” गिरीश पांचेक मिनिट बाद स्वयं ही बोल उठा । “भाभी तुम इसे बनारस यूनीवर्सिटी के अन्दर तक पहुँचा सकती हो ? यूनिवर्सिटी में कोई न कोई इसको सम्भाल ही लेगा, न हो बिरला होस्टल में दक्षिणी ओर के तीसरे कमरे में पहुँचा दें और बस ।”

“यह मैं कर सकूंगी । भलो प्रकार कर सकूंगी ।”

“फिर मैं जाऊं भाभी, मुझे आज ही बहुत सा काम समाप्त करना है ।”

“तुम्हारे पास कुछ रुपये होंगे गिरीश ?”

“किन्ने चाहियें ?”

“मेरी यह सोने की जंजीर कोई आठ तोले की होगी । तुम इसे बेच कर किसी भले काम में खर्च करो । मुझे इस समय बीस रुपये दे दो ।”

“मेरी रानी भाभी, जेब खो, यह बारह रुपये हैं इनसे तुम काम चलाना ।”

“रुपये मैं ले लेती हूँ, जंजीर तुम रख लो । मेरी यादगार ही रहेगी, मेरे लिये तुम चिन्ता न करो । विश्व में मेरा कोई नहीं है, यह सत्य है । फिर भी धन की मुझे कोई कमी नहीं है ।”

शायद बातचीत में नष्ट करने के लिये समय न था। नाव किनारे लगा कर गिरीश चुपचाप सोने की जंजीर जेब में डाले, भाभी के चरणों के निकट प्रणाम करके उतर गया। नाव फिर जलधारा में चली। इस बार उस अचेत शरीर के पीछे बैठी हुई रमणी के नेत्रों की जलभरी पलकें तट की ओर उठ गईं। तुरन्त ही पतवार हाथ में पकड़ कर वह सोचने लगी “क्या इस नौका जैसा ही अनिश्चित मेरा जीवन भी नहीं है ? पर नहीं कहां ? आज तो मेरे जीवन में एक उद्देश्य है, एक लक्ष्य है। नहीं जानती यह कौन सा काम है जो यह युवक कर रहे हैं, पर फिर भी मुझ आज कुछ काम मिला तो सही। इस युवक के प्राणों की रक्षा करनी ही पड़ेगी। फिर... फिर देखा जायेगा... यही लोग, कहीं यही लोग क्रान्ति अग्रदूत बनने वाले नासमझ छोकरो में से तो नहीं हैं। जो भी हो, इस प्राण की रक्षा का भार आज... आज मुझ पर है। कैसा भोला है यह गिरीश..... ओह मां ... मेरी अभागिनी मां कल सुनेगी कि उसकी लड़की घर से भाग गई, मर गई और न जाने क्या क्या..... जाने दो मैं मर तो गई ही। विश्व भर में आज वारूणि कहां है ? कहीं नहीं, वह मर गई और आज मर कर ही तो इस मरते हुये प्राण को लौटाने चली है, उसे जो कि उसका कोई भी नहीं है। कैसा विचित्र है विधना का विधान।” रमणी हंस पड़ी “और अब रोजंगी... जो दूर ही दूर बैठे सबको नचाते रहते हैं, उनकी विचित्र बातों पर अब रोजंगी नहीं।” साहस से युवती कमर कस कर बैठी, वह इच्छा आज फिर से जाग्रत हो उठी, उसकी निराशा बस अँधेरे में फिर से एक बार आशा की चमक दीख पड़ी। पिछले ३६२ दिनों के पश्चात आज उसे जीवन में काम मिला था। भले ही वह विचित्र कार्य हो, फिर भी था तो कार्य ही। उसके जीवन का उद्देश्य कल दोपहर को ही तो उसने

कहा था । “तू मर भी तो नहीं जाती.....” युवती फिर एक बार कांप उठी और इस मरते हुये युवक के प्राणों की भित्ति आज वह स्वयं दे रही है । कैसा चित्र संयोग है, कैसी विडम्बना है विधि की । परसों वह वारूणि थी, कल विप और आज बन गई है तारिणी । युवक अचेत था बिलकुल अचेत, युवती क्षणभर को झुक कर उसकी सांस का अनुभव करने लगी । वह शरीर धीमी धीमी सांस ले रहा था । ठीक ही तो वह जीवित है, सचमुच ही जीवित है.....इसे बचाना होगा, अवश्य बचाना होगा ।.....युवती को पहली ही बार भय हुआ कि कहीं यह युवक मार्ग में ही समाप्त न हो जाये । उसे स्वयं भी सर्दी लग रही थी, वह युवक के और निकट आ गई । एक हाथ में डांड सभाले हुए थी, पर इस शरीर को गर्मी तो पहुँचानी ही थी ना ? कहीं यह सदा के लिये शीतल ही न हो जाये । युवती ने बायें हाथ से युवक के हाथ छुये, वह बर्फ जैसे ठण्डे हो रहे थे । युवती ने शरीर को कुछ निकट घसीट लिया, उसके कपड़े कुछ कुछ सीले थे, केवल मात्र एक पशमीने की शाल ही ठीक ठीक सूखी थी । युवती को शिल्क की साड़ी का लम्बा पल्ला भी गीला था । युवक को गर्मी पहुँचानी थी, वह बेहोश था और उसके हाथ ठण्डे.....बिलकुल ठण्डे थे । युवती क्षणिक को घबरा गई । गिरीश भी चला गया था ।

युवती ने अपनी साड़ी उतार ली । साड़ी के गीले पल्ले को एक ओर डाल कर, शेष सूखे भाग को युवक के शरीर पर लपेट दिया । स्वयं केवल मात्र शिल्क के पेटीकोट और आधी बाहों के जम्पर में बैठी कांपने लगी । तिस पर भी उसे सन्तोष न हुआ, वह अपनी गोद में चिड़िया के बच्चे की तरह युवक के अधजले शरीर को छिपा कर, उसके चारों ओर पशमीने की शाल लपेट कर, गंगा की लहरों से कुरती करने के लिये तैयार हो गई । सम्भवतः गंगा चढ़ती हुई

गंगा भी, युवती की असहायावस्था देख कर ही शान्त भाव से बह रही थी। युवती रह रह कर बायें हाथ से युवक की सांस का, दिल की धड़कन का अनुभव कर लेती थी। न जाने क्यों अब उसे अधिकाधिक अभिलाषा अनजाने, अनपहिचाने युवक के प्राणों की रक्षा करने की हो रही थी। नाव शान्त भाव से बहती, जल के थपेड़ों का स्वागत करती चली जा रही थी। युवती अपनी बेढंगी विचार धारा में लोट रही थी। नगर के आसार दीखने लगे। युवती का दिल भी धड़कने लगा। उसे जाना होगा विश्वविद्यालय में लगभग दो मील की दूरी पैदल तय करके, नहीं, तांगा कर लेना ही ठीक होगा, पर मेरी वेषभूषा सो कुछ नहीं, कुछ नहीं।

विश्वविद्यालय से उसका पूरा पूरा परिचय था। किसी दिन वहीं उसने अपने जीवन के आनन्दमय महीने बिताये थे। फिर भी आज यूनीवर्सिटी के चारों ओर पहरा लगा है और उसे ले जाना है उसी पहरे को पार कर, यूनीवर्सिटी के भीतर, सरकार के भयंकर शत्रु को।

युवती के दिल की धड़कन तेज होती जा रही थी। उसके हाथ पैर काँपने लगे थे। क्षणिक को उसे जान पड़ा कि युवक उसे विपत्ति से छुटकारा देकर दूसरे लोक को चल दिया, पर वहां उसने अनुभव की उस शरीर की सांसे, उसके दिल की धड़कन। उसे किसी भी मूल्य पर उस शरीर की रक्षा करनी होगी और कोई भी उपाय नहीं है उसके जीवन के उद्देश्य को खोज पाने का। किनारा नाव ने पकड़ ही लिया। आकाश पर कुछ कुछ रोशनी भी दीख पड़ी। युवती ने बरबस हृदय में साहस भरकर अपनी साड़ी पूर्ववत् पहिन ली। पल्ला अब भी गीला था, पर उसे ठीक तौर पर ओढ़ना ही पड़ा। गीली साड़ी के गले में छूने से युवती कांपने लगी, पर और उपाय भी क्या था? किनारे पर उतर कर युवती ने उस युवक को भली प्रकार पशमीने की लम्बी-

चौड़ी शाल में गठरी की तरह बांध लिया और पीठ पर रख कर चली ।
बिचारी युवती.....जीवन में इतना परिश्रम उसे कभी भी नहीं
करना पड़ा था । मीलेक चलकर नगर दीख पड़ने लगा । एक इक्का
भी आता दीख पड़ा । युवती गठरी नीचे रखकर खड़ी हो गई ।
गंगास्नान करने वाले भी दो चार सड़क पर दीख रहे थे ।

“यूनीवर्सिटी चलना है ? क्या लोगे ?”

“ई बखत दो रुपये से कम का लेई बिटिया ।”

“अच्छा नहीं नहीं, गठरी मत छुओ, इसमें पूजा
का सामान है ।” कह कर गठरी बड़ी कठिनाई से इक्के पर रख कर
युवती स्वयं भी ऊपर जा बैठी । सर्दी से दांत बज रहे थे ।

“बिटिया बग़लत बड़ा खराब है, ई बखत इतने सबेरे गंगा
स्नान करे ना आया करो ।” बूढ़ा इक्के वाला बके जा रहा था, पर
युवती शान्त थी । उसे तो तब होश आया, जब विश्वविद्यालय के द्वार
पर प्रश्न हुआ, “कौन ?”

“स्टूडेंट हूं ।” नारी का स्वर छुपा न रहा ।

“कहां से आती हो इतने सबेरे ?”

“शहर से ।” गठरी पर शायद दृष्टि पड़ी नहीं, अन्धेरे के
कारण अथवा ध्यान ही नहीं रहा ।

“जाओ ।” अचेत प्रायः युवती इक्के से गठरी सहित उतर
कर लेडीज़ होस्टल के सामने खड़ी हो गई । इक्के वाला पैसे ले कर
चला गया और युवती चिन्ता से पीली पड़ने लगी । सूर्य देव तेजी
से बाहर निकलने की चिन्ता में थे और हमारी परिचित युवती.....।

आश्चर्य

✖ ३ ✖

“जल्दी करो, मेरा सिर आज फिर फटा जा रहा है।” स्वर थका था।

“कितनी बार कहा है फिजूल बात न किया करो। अभी थका-मरा आफिस से आया हूँ, कपड़े न उतारूँ, आराम न करूँ, बस बैठ जाऊँ खाने। अरे भाई अपना आराम देखा करो और दूसरे की परवाह जरा न करो।” चारपाई पर बैठे ही बैठे श्रीधर ने कुछ ऊँचे स्वर में उत्तर दिया।

बसन्ती चौखट से सिर लगाये खड़ी थी। पिछले पन्द्रह दिन से उसे जोर से हर सन्ध्या को बुखार चढ़ आता था, सिर फटने लगता था। फिर भी पति को दफ्तर से लौटने पर दो फुलके सेंक कर देने ही होंगे, स्कूल से लौटने पर बच्चों को दो दो फुलके देने ही होंगे। नारी का जन्म पाकर भला इससे कहां छुटकारा। पहिले दो चार दिन तक तो बसन्ती यूँ ही घसीटती रही। न तो पति को ही बताया और न बच्चों से ही कुछ कहा, पर हालत गिरती ही गई। पति को दफ्तर और तीनों बच्चों को स्कूल भेजकर परसों एक पड़ोसिन के साथ हस्पताल गई थी। डाक्टर ने पुराना बुखार बताया। दवाई भी दी और रोटी खाने को भी मना कर दिया। फल खाने की राय भी दी और पूरा पूरा आराम करने के लिये भी कहा। बसन्ती की पड़ोसिन ने हंस कर कहा— ‘भला बाल बच्चों के घर में यह दवाई कहीं सध सकती है।’

बसन्ती ने दांतों तले जवान दवाई और दवाई की शीशी हाथ में लिये हुये घर चली आई। शीशी ताख में रख दी। एक खुराक तो पी ही ली थी, दूसरी का समय आने पर देखा तो शीशी ताख से नाली में गिर पड़ी थी। दवाई नाली के गन्दे पानी में मिल गई होगी, और शीशी के टुकड़े बिचारी बसन्ती को समेट कर बाहर फेंकने पड़े, शायद मुन्ने का हाथ लग गया था।

कल दिन भर भगवान की कुछ कृपा रही, आज फिर दोपहर से ही जाड़ा चढ़ रहा था, फिर भी बसन्ती ने तीन बजे के लगभग धूप का पीछा छोड़ कर आग सुलगाई, दाल बीनी और चढ़ाई। दो आलू भी काटकर रसदार तरकारी तैयार की। पांच बजते न बजते बसन्ती दो बार कै भी कर चुकी थी। दो दिन से छोटा नौकर छुट्टी पर था। आज शायद आ जाये, यह सोच कर बसन्ती ने आटा कुछ ज्यादा मल लिया। बच्चे स्कूल से आ गये। नौकर भी आज आ गया। फिर भी श्रीधर घर न पहुँचे। बच्चों के फुलके नन्दू ने ही सेंक दिये लेकिन नन्दू के फुलके या तो कच्चे रह जाते थे और या फिर जल जाते थे। श्रीधर घर के बड़े थे, दिन भर दफ्तर में दिमाग खपाई भी करते थे और महीने के अन्त में पूरे दो सौ रुपये भी घर में लाते थे। उनके लिये जले या कच्चे फुलके तो थाली में रखे नहीं जा सकते। तिस पर आज तो उन्हें देर भी हो गई थी, कुछ काम ही कर रहे होंगे। शायद कोई व्यूशन करली हो, लड़ाई के दिन हैं। दो सौ रुपये और पांच प्राणी खाने वाले, तिस पर सफेद पोशी भी निबाहनी हुई, कहां तक पूरा पड़े। लेटने की प्रबल इच्छा होते हुये भी बसन्ती रसोई में बैठी रही। नन्दू कहता रहा “मां जी तुम लेट रहो, बाबू को खाना मैं खिला दूंगा।” पर बसन्ती को सन्तोष कहां होता, बिचारी दर्द से फटता हुआ सिर लेकर बैठी थी।

“मां जी बाबू आ गये हैं ।” श्रीधर को कोठे पर चढ़ते हुये देख कर नन्दू ने कहा । इस समय कोई आठ बजे होंगे, बच्चे तो सो गये थे, दसेक मिनट ठहर कर बसन्ती कोठे पर चढ़ गई । चौखट पर सिर रख कर बसन्ती ने जल्दी करने को कहा । श्रीधर का उत्तर हम सुन ही चुके हैं । बसन्ती ने मुख उठा कर श्रीधर की ओर देखा । श्रीधर सिर नीचा किये चुप चाप बैठे थे । बसन्ती ने श्रीधर की यह मूर्ति कभी भी नहीं देखी थी । कांपते पैरों से श्रीधर के लटकते हुये पैरों के पास धरती पर पड़ी हुई दरी पर ही आ कर बैठ गई । “क्या हुआ ?” उसने पूछा ।

“क्या बताऊं ?” श्रीधर ने उत्तर दिया ।

“ऐसे उदास तो तुम कभी भी नहीं होते । आज क्या बात है, कुछ कहो भी ।” बसन्ती अपना दुःख दर्द भूल गई थी पति के सूखे मुख की ओर देख कर । उसका अपना समस्त रक्त मानो जम ही सा गया था ।

“क्या कह रही थी बसन्ती ? आज फिर बुखार चढ़ रहा है क्या ?” बात बदलने की दृष्टि से श्रीधर ने बसन्ती के माथे पर हाथ रख दिया ।

“जाने दो, मेरा बुखार तो ठीक हो जायेगा । बात क्या है, यह तो बताओ ?”

“बात है तो कोई खास नहीं । आज ही एक रिपोर्ट आई है । बलिया जिले के.....गांव के स्टेशन में फिर आग लगा दी गई । स्टेशन तो जल गया, पर जलाने वाला भी अघजला हो गया । ताज्जुब तो यह है कि वह फिर भी भाग निकला । उसी का पता लगाने का काम मुझे दिया गया है ।” श्रीधर दुःखित से स्वर में कह

रहे थे ।

“हाय राम तुम उसे कैसे ढूँढोगे ? साहब से कह नहीं दिया कि यह काम मेरे बस का नहीं है ।”

“सो कहने पर क्या नौकरी रहनी थी । तुम जानती ही हो, मैं तो राजनीतिक मामलों से बड़ा घबड़ाता हूँ, पर करूँ क्या ? मेरे जिम्मे आजकल यही काम पड़ रहे हैं । अभी उस दिन उस फूल् से बालक को गिरफ्तार करवाया । सच ही बसन्ती मैं तो तंग आगया ऐसे कामों से ।”

बसन्ती स्वयं भी रोज रोज की कहानियाँ सुन कर तंग आरही थी । सन १९४२ मानो उनके घर की सुख शान्ति ही नष्ट करने आया था । बसन्ती के मुख पर आया कि कह दे, जाने दो, हमें ऐसी नौकरी नहीं चाहिये । तुम नौकरी ढोड़ दो । इसी समय पास के कमरे से नन्दू का स्वर सुन पड़ा । नन्दू शिशिर को दूध पीने के लिये जगा रहा था । बसन्ती सिर से पैर तक कांप उठी । नौकरी.....दो सौ रुपये.....तीस रुपये मकान का किराया, चालीस रुपये दूध के कम से कम, पन्द्रह रुपये की सब्जी । लकड़ी, स्कूल की फीस, आटा, घी, कपड़ा सारा ही तो घर खर्च पड़ा है और ११५ रुपये । फिर गांव बूढ़ी सास को भी तो पन्द्रह रुपये भेजने होते हैं.....और नौकरी ढोड़ने का प्रस्ताव । मुख की बात मुख में ही रह गई ।

“अच्छा अब उठो भोजन कर लो ।”

“तुम लेट रहो बसन्ती, नन्दू फुलके सेंक देगा ।”

“नहीं, सो न होगा । अभी तो मैं जीवित हूँ, तुम कपड़े उतार कर नीचे आओ, मैं दो फुलके सेंक कर लेट रहूंगी ।” पति ने प्रेम से पत्नी की ओर देखा । पत्नी से मन की घनी दुःख की बात कह चुकने पर

श्रीधर का मन कुछ हल्का सा हो गया था। बसन्ती का सिर पहिले से भी अधिक बुरी तरह फट रहा था, फिर भी समुद्र की तरह शान्त बसन्ती धीरे धीरे जीना उतर कर नीचे चली गई। पति की लाचारी और अपनी बेबसी से उसकी आंखों से दो बूंदे भले ही रास्ते में भी झर गई हों, पर वह शान्त थी। नन्दू ऊपर बच्चों को दूध पिलाने में उत्कृष्ट रहा था। लकड़ी ज्वालायें छोड़ कर धूँ दे रही थीं। सारी रसोई धूँ से भर गई थी। बसन्ती का मन शान्त न था, वह नन्दू को पुकार कर लकड़ी बालने का आदेश देने को हिम्मत भी अपने में नहीं पा रही थी। चुपचाप पट्टे पर बैठ कर चूल्हे को फूँकने लगी। निरन्तर पाँच सात मिनट के परिश्रम ने धूँ का स्थान जपटों को दिला दिया। बसन्ती फुलका बेलने लगी, नन्दू आकर बाबू जी के वास्ते थाली लगाने लगा।

अतीत के चित्र बसन्ती के नेत्रों में झूलने लगे। बसन्ती की विधवा माँ तपस्विनी थी। बड़ी ही कठिनाई से उसने अपनी एक मात्र लड़की को दसवीं तक शिक्षा दिलाई थी। स्कूल में बसन्ती बड़ी ही प्रतिभा शालिनी छात्रा मानी जाती थी। बसन्ती को एक बार स्कूल के एक नाटक में नायिका के रूप में अपने मुख से निकले शब्द भी याद आ गये—“देश को बेचकर अन्न खाने से मर जाना कहीं अच्छा है महाराज !” वह एक राजपूत रानी थी और पति का निरन्तर राज्य सम्मान स्वीकार करने का प्रस्ताव ठुकरातो रहो थे। विवाह के समय श्रीधर बी० ए० का छात्र था, जोशीला और स्वप्न द्रष्टा ! यौवन की कुहरे भरी रातों में दोनों ने एक ही पथ, सेवा पथ पर निरन्तर चलते रहने के शिवसंकल्प बनाये थे। और फिर.....फिर श्रीधर के पिता की अचानक मृत्यु.....सौतेली माँ और चाचा का भोले से सब कुछ हथिबा लेना और श्रीधर को जय मात्र में अनुभवहीन पथ का

भिकारी बना ढाला जाना.....गोद में बच्चा.....गर्भ में बच्चा
फिर नौकरी की तलाश.....घनी निराशा और फिर
 अत्यन्त अनिच्छा से स्वीकार की हुई सी० आई० डी० की सौ रुपये
 की नौकरी। बसन्ती को आज भी वह रात याद है, जबकि पति-पत्नी
 ने अत्यन्त दुःख, अपमान और लज्जा से भूख ज्वाला को न सह सकने
 के कारण यह नौकरी स्वीकार कर ली थी। और नौकरी थी भी कहाँ ?
 बसन्ती ने पति को उस दिन से कभी भी खुल कर इच्छापूर्वक हँसते
 नहीं देखा। कई बार इच्छा भी की कि यह नौकरी छोड़ दे, पर
 निरन्तर प्रयत्न करने पर भी और नौकरी थी ही कहाँ ? घर के खर्च
 और महंगाई की ओर देख कर बसन्ती की हिम्मत भी छूट जाती थी।
 तिस पर हर प्रकार की दुर्गति का अनुभव कर चुकने पर, आज सौतेली
 सास भी गांव में बैठी, इन्ही का गलग्रह बनी हुई थी। लड़ाई क्या
 योरोप में छिड़ी, श्रीधर की तो आफत हो आ गई। सुभाष का एलान
फारवर्ड ब्लॉक वालों की उछल कूद और बयालीस के आन्दोलन
 ने तो घर की शान्ति ही नष्ट कर दी। श्रीधर कर्त्तव्य परायण था और
 अत्यन्त दुःखी। बसन्ती लाचार थी और वेदना में डूबी हुई। अतीत
 के चित्र बसन्ती के मन प्राण को जलाये जा रहे थे। नन्दू के स्वर ने
 बसन्ती की चेतना लौटा दी। “बहू जी, किसके लिए फुलके बना रही
 हो ? बाबू जी खा चुके हैं और यह तो दो आदमियों से भी ज्यादा
 के लिये काफी है।” बसन्ती ने देखा सचमुच बहुत से फुलके बन गये
 थे। उसे तो खाना खाना ही न था, डाक्टर ने मना जो किया था।
 भले ही फल न जुट सकें, पर खाना तो नहीं खाना है ना ?

“हां ठीक तो है, तुम खाना खा लो, मैं तो खाऊंगी नहीं। तुम
 चौका ठीक करो, मैं कुण्डा बन्द कर के ऊपर जाती हूँ।”

“मां जी आप दूध तो पी लें।” नन्दू बहुत प्रसन्न होने पर मां

जी कहा करता था ।

“नहीं, मैं दूध नहीं पिऊंगी । तू एक गिलास बचा होगा, उसे जमा ही दे, सवेरे बाबू जी की थाली में रख देना ।” बसन्ती उठ कर आंगन में चली आई । जान पड़ता था कि क्षण भर में अचेत हो जायेगी, पैर कांप रहे थे, सारे शरीर में भयंकर पीड़ा हो रही थी, फिर भी नीचे का दरवाजा बन्द किये बिना बसन्ती ऊपर कैसे चढ़ सकती थी, घर की गृहिणी जो थी । बसन्ती अचानक ज्योंही दरवाजे के पखलों को भिड़ा कर द्वार बन्द करने लगी कि उसके मुँह से एक हल्की सी चीख निकल गई । रसोई दूर थी, नन्दू सुनता ही कैसे ? और गृहस्वामी दूसरी मंजिल पर थे । गिरती हुई बसन्ती के हल्के फुलके शरीर को दो मज़बूत हाथों ने थाम लिया ।

“बहिन, निर्भय हों । निर्भय हों ।” बसन्ती सम्भल सी गई किन्तु जमीन आसमान घूम रहे थे चक्कर की भांति । कांपते स्वर में बसन्ती ने कहा—“क्या चाहते हो ?”

“दोगी, बहिन ?”

“चाहते क्या हो ? चोर हो क्या ? गृहस्वामी एक आवाज पर आकर तुम्हारी दुर्गति कर देंगे ।” अजनबी हंस पड़ा ।

“चोर नहीं हूँ ! आश्रय चाहता हूँ रात भर के लिये ।”

“गृहस्वामी की इच्छा के बिना मैं तुम्हें आश्रय दे सकूंगी, क्या इसी आश्वासन पर बिना निमन्त्रण ही घर में घुस आये हो ।” बसन्ती अब भी आपे में न थी ।

“भारतीय नारी की मममा के भरोसे ही निराश्रय घर से निकल पड़ते हैं देवी ।” उत्तर सुन कर बसन्ती कांप उठी, आगन्तुक कौन हो सकता है ? इसमें भी बसन्ती को सन्देह न रहा और अपनी परिस्थिति का मान करना भी उसे शेष न था ।

“जानते हो यह घर किसका है !”

“एक हिन्दुस्तानी का ।”

“इस से कुछ अधिक भी ?”

“जानता हूँ, पर जानना चाहता नहीं। चाहता तो आप के बिना जाने भी आज की रात यहाँ बिता ही देता, पर वैसा अनुचित न होता बहिन ?”

इस बार बसन्ती ने चुपचाप दरवाजे का कुण्डा लगा दिया और आगन्तुक को पीछे आने का संकेत किया। बगल वाले कमरे का द्वार खोलकर बोली, “इसी में रात बितालो, मेरे अनजाने मेहमान ! मैं अस्वस्थ हूँ और गृहस्वामी इसकी आज्ञा कदापि नहीं देंगे। यह जानकर भी यह खतरा अपने ऊपर ले रही हूँ। थोड़ी देर में फिर आऊंगी, तब ही शायद खाने पीने का प्रबन्ध कर सकूँ।”

“देवी, आप चिन्ता न करें, मैं भोर होने से पूर्व ही चला जाऊंगा। खाने पीने की भी आवश्यकता न होगी, किन्तु आपकी दया सदा याद रखूंगा।”

“तुम्हारा आना मेरे लिये सुख सन्देश नहीं है, आगन्तुक।”

“जानता हूँ देवी।” वह पुरुष प्रतिमा चुपचाप अन्धेरे में विलीन होगई। बसन्ती ने बाहर से किवाड़ भिड़ा दिये, फिर भी ऊपर चढ़ने की उसकी हिम्मत न हुई। नन्वू गीत की कड़ियां गुनगुनाता हुआ बरतन मल रहा था। बसन्ती अन्धेरे बरामदे में चुपचाप खड़ी कांप रही थी। “मैंने यह क्या किया ? मैंने उसे आश्रय दिया है। मेरे पति का कर्तव्य क्या मेरे कर्तव्य से भिन्न है ? वह इन्हीं लोगों को पकड़ पाने के लिये जमीन आसमान एक करते हैं और मैं आज इसी को आश्रय दे रही हूँ। पर मैं करती क्या ? वह.....वह.....जो देश के लिये

बावले हुये फिरते हैं, उन्हीं को..... उन्हीं को मेरा पति.....
छी.....मेरा पति.....वह क्या मुझ से भिन्न है।”

बसन्ती खड़ी न रह सकी। धम से सीली जमीन पर वहीं बैठ गई। विचारों की भीड़ से उसका सिर भरा हुआ था। आंखें जल रही थी, दिल धड़क रहा था। पर लेटना, ऐसी अवस्था में वह कैसे लेट सकती थी। नन्दू रसोई के पास वाली कोठरी में जाकर बत्ती बुझा करी लेट रहा था। बसन्ती चुपचाप दूबे पांव रसोई में गई। अन्धेरे में टटोल कर फुलके, सब्जी निकाली, और आगन्तुक के कोठरी के द्वार पर जाकर खड़ी हो गई।

“लो, भोजन कर लो और प्रातः ही चले जाना, फिर कभ जीवन में इस द्वार पर दर्शन न देना।” दो हाथ अन्धेरे में ही फैल गये। बसन्ती ने टटोल कर फुलके उन पर रख दिये। आगन्तुक ने मन ही मन कहा—“फिर आऊंगा और आऊंगा, तुम्हारे हृदय के कोमल अंश से देश का जितना उपकार हो सकेगा, करूंगा। पति के पाप का प्रायश्चित्त तुम्ही तो करोगी देवी ! यदि ऐसा न हो सकेगा तो भारत के भाग्य का निर्णय भी कहां होगा ? हमारा आन्दोलन तब ही सफल होगा, जबकि हम भारतीय हृदयों के भारतीय अंश को टटोल कर उसे सजीव कर सकेंगे।”

काँपते पैरों से बसन्ती कोठे पर चढ़ गई। बिस्तर पर लेट भी गई, पर नींद कहां ? बसन्ती ने बेचैनी से करवट लेकर सब से छोटे बालक शिशिर की ओर देखा, शिशिर अपनी छोटी सी हथेली पर सिर रखे सो रहा था। बसन्ती ने आंखों के आंसू रोक कर कहा, मन ही मन “भगवान करे, मेरे नन्हों तुम भारत को स्वतन्त्र देखो। माता पिता के पाप का यदि किसी दिन तुम्हें स्वतन्त्र भारत में प्रायश्चित्त

करना पड़े भी तो मां के इस पति के प्रति किये गये विश्वासघात
उज्ज्वल निष्पाप, विश्वासघात का यदि कोई पुण्य कर्म फल हो तो
वह भी तुम्हारे लिये ही फलित हो ।”

धू धू, आग की तरह जलता हुआ शरीर लेकर भी बसन्ती
लेटी न रह सकी । दोहरी लोई आँद कर फिर नीचे जा पहुँची । इस
बार बाहर से बसन्ती ने आहट ली । गहरी नींद में सोने का शब्द
आ रहा था, बसन्ती शान्त लौट गई । पर इस बार भी बरामदे से
आगे न जा सकी । बरामदे में पड़े हुये तख्त पोश पर सुकड़ कर बैठ
गई । मन प्राण की अतुल घन घोर ध्वनि में बसन्ती खो सी गई ।
आँखों में नींद नहीं थी, पर मन के भीतर छाती के अन्दर भयंकर संघर्ष
हो रहा था । न जाने कब उसी संघर्ष के बीच बसन्ती अचेत सी हो
कर तख्त पोश पर ही डुलक गई और न जाने कब आगन्तुक कुण्डली
खोल कर सड़क पर तारों की छाया में निकल गया ।

लाश

:: ४ ::

“मैं यह काम कर तो सकता हूँ, किन्तु इसका लाभ क्या है, सो ही नहीं समझ पाता ।”

“सो तुम नहीं समझ सकोगे किन्तु इतना लम्बा चौड़ा कसरती शरीर ले कर भी यदि यह काम न कर सके.....तो भला तुम्हारा शरीर किस काम आयेगा ।”

“तो तुम्हारा सिर ।” कुछ झुझला कर कोट पैंट धारी गोरेसे युवक ने कहा । इस बार उत्तर दिया एक दुबले पतले हल्के फुलके से लड़के ने । इसकी वेष-भूषा साधारण थी । खादी का सादा कुर्ता और धोती उसके शरीर की शोभा बढ़ा रहे थे । “काश ! कि मेरा शरीर इस लायक होता । बलदेव, तू एक लाश को बाहर फेंक आने में इतनी आना-कानी कर रहा है किन्तु धन्य है उस मां के लाल के साहस को जो बलिया से रातों रात गंगा की छाती को निरन्तर चीरता हुआ, इस मृत प्रायः जले शरीर को यहाँ तक उठा कर लाया । साहस पूर्वक यूनीवर्सिटी के भीतर भी न जाने किस कौशल से घुस गया । वह तो कहो कि मृत व्यक्ति ही समझदार निकला जो अपने साक्षी को चिन्ता मुक्त कर के दूसरे लोक को प्रस्थान कर गया और हम हैं कि एक लाश को ठिकाने से लगाने के प्रश्न को लेकर चिन्ता से मरे जा रहे

हैं।” जिस व्यक्ति को बलदेव कह कर सम्बोधित किया गया था वह एक अत्यन्त गौरवर्ण छः फुट कद का लम्बा तगड़ा जवान था। ललाट पर की रेखाओं में गम्भीरता से अधिक बचपन और अस्वस्थ-पन ही झलकता था, फिर भी वह कुछ भयभीत सा जान पड़ता था। उसने कुछ देर रुक कर कहा “क्या करूँ यार, काम तो कुछ बहुत नहीं है, आज ही ज़रा और घनी रात होने पर कन्धे पर उस ज़रा से भार को रख कर गंगा तक छोड़ आना कौन सा बड़ा काम है। भला मेरे मजबूत कन्धे इतने से भार से दब सकते हैं, पर न जाने क्यों साहस ही नहीं होता। डर लगता है कि कहीं कोई पहरे का सिपाही ही न रोक ले। यहां का हाल तो तुम जानते ही हो। बेगुनाह मिनटों में फाँस लिये जाते हैं। यह तो फिर भला रंगे हाथों वाली बात हो जायेगी।”

“लेकिन जो इसे पिछले दो दिनों के बीच लाया होगा, वह भी तो कोई मनुष्य ही होगा, फिरिश्ता तो होगा नहीं बलदेव !”

“ठीक है पर.....पर पिता जी भी तो किसी तरह राजी नहीं होते।” बलदेव ने आखरी तीर छोड़ा।

“अरे मूर्ख क्या प्रोक्लेसर साहब से भी कह आया।”

“और करता भी क्या ? मैं तो तुम्हारे कहने से राजी हो ही गया था पर ज्योंही मैं ओवरकोट और कम्बल लेने ऊपर गया, पिता जी ने फिर नीचे आने से मना किया। मैंने सोचा कि सारा वृत्तान्त सुन कर वह तुरन्त ही सहमत हो जायेंगे। किन्तु उन्होंने सारी बात सुन कर तुरन्त मुझे ऐसा काम करने से बलपूर्वक मना कर दिया, वरन् तुम लोगों को भी उन्होंने बुलाया है।”

कोट पैन्ट धारी व्यक्ति इस बार शान्ति से बोला—“ठीक ही तो है। हमें लाश ठिकाने लगानी है। सम्भवतः अकेले बलदेव को इस

काम पर लगाकर हम गलती ही कर रहे थे । प्रोफ़ेसर साहिब की सलाह से सम्भव है कोई सरल रास्ता निकल आये । पर किसी भी हालत में लाश कल सुबह से पूर्व ठिकाने लगा देनी होगी ।..... सीधे मार्ग से उसे हम ले जा सकते ही नहीं हैं । द्वार पर पहिचान जो की जायेगी और फिर प्रश्न आयेगा कि यह व्यक्ति यहां आया किस तरह ? ऐसी अवस्था में विश्वविद्यालय पर भी विपत्ति आ सकती है ।”

“इससे अधिक विपत्ति और क्या आयेगी और विपत्ति का तो अब प्रश्न ही नहीं रह गया है । आज तो देश भर पर विपत्ति आगई है । फिर भला विश्वविद्यालय की बात ही क्या है ।”

होस्टल के एक कमरे में बैठे तीन युवक बातें कर रहे थे, अत्यन्त धीमे स्वर में । एक की बात दूसरे को भी कठिनता से ही सुनाई देती थी । तीनों की मुख-मुद्रा गम्भीर और कुछ घबराई हुई सी थी । शायद हमारे पूर्व परिचित युवक को हस्पताल के द्वार पर, हस्पताल खुलने से कुछ समय पूर्व हमारी पूर्व परिचिता नारी रख कर स्वयं सरक गई थी । जला हुआ व्यक्ति बनारस विश्वविद्यालय के पुराने छात्रों में से किसी के लिये भी अपरिचित न था । किसी न किसी ने दया करके उसे हस्पताल में दाखिल भी करवा दिया । किन्तु शोध ही पता लग गया कि वह विश्वविद्यालय का छात्र नहीं है । हस्पताल के अधिकारियों को युवक की विशेष चिन्ता नहीं करनी पड़ी । वह बिचारा स्वयं ही उस दिन सन्ध्या को पांच बजे चल बसा । अब प्रश्न अधिक गम्भीर होगया । शरीर को तो दौड़ भाग कर किसी प्रकार छिपाया भी जा सकता है, किन्तु लाश को छिपाना और विशेषतया जब कि चारों ओर खोज हो रही है, अधिक कठिन है । इस गम्भीर समस्या को केवल हमारे तीनों युवक सोच रहे थे । इनका स्वर बड़ा ही धीमा था, फिर भी कमरे के दूसरी ओर के बरामदे की बन्द खिड़की के पास खड़ा हुआ

नौजवान सुन्दर सिक्ख युवक इनकी बातों पर ही कान रक्खे हुए है, यह इन्हें ज्ञात ही नहीं हुआ। यह गम्भीरता पूर्वक सोच ही रहे थे कि प्रोफेसर साहब का दूसरा बुलावा भी आगया और तीनों युवक चुपचाप चारपाई के नीचे पड़ी हुई उस लाश को कपड़े से ढक कर, बाहर से दरवाजे में ताला लगा कर प्रोफेसर साहब से सलाह करने चल दिये। हस्पताल से तो उस युवक को यह लोग किसी प्रकार निकाल ही लाये थे, क्योंकि विश्वविद्यालय के अधिकारी तो विपत्ति और उसका उत्तरदायित्व दोनों से ही छुटकारा चाहते थे ना ? और यह युवक थे अगस्त बयालीस के क्रान्ति के दूत। इन्हें ही तो उसकी विपत्ति का उत्तरदायित्व भी लेना था। सन्ध्या का समय था, अभी तक विशेष घनी सर्दी तो हुई न थी। सन्ध्या को बाहर घूमने जाना भी आवश्यक था और तिस पर भोजन करने जाना तो अत्यन्त आवश्यक था। होस्टल प्रायः खाली था। कुछ लड़के अपने ब्रासों में भोजन करने चले गये थे और कुछ घूमने। सिक्ख युवक अपनी पगड़ी माथे पर कुछ और नीची कर के पीछे की ओर से घूम कर उसी कमरे के ठीक सामने आ खड़ा हुआ। बरामदे की बत्ती जल रही थी जोकि उस सरदार ने बड़ी समझदारी के साथ दो चक्कर बरामदे में लगाते हुये बुझा दी। बस अब बरामदे भर में अन्धेरा था। लम्बे बरामदे के दूसरे किनारे तक केवल दो बत्तियां और थीं, किन्तु वह दोनों ही बन्द थीं। कामन रूम में भी उस समय कोई न था। शायद इस सूनसान का कुछ कारण आतंक भी रहा हो। जो हो, सरदार साहब जोकि शायद अभी कमशिन थे, ने किसी एक गुच्छे से.....चाबियां..... उसी कमरे के ताले में लगानी आरम्भ की.....एक.....दो.....तीन.....चौथी ताली से ताला तुरन्त ही खुल गया। बालक सरदार ने धीरे से पल्ले पीछे को ढवेल कर अन्दर प्रवेश किया। प्रवेश करते

ही सरदार दाहने हाथ को मुड़कर पलंग के नीचेसे कुछ निकालने लगा । दुर्गन्ध से कमरा पहिले ही भरा हुआ था । सरदार ने धीरे से लाश को चादर में लपेट कर कन्धे पर सहज ही उठा लिया । बड़ी सावधानी से चारों ओर देखता हुआ सरदार बाहर निकला । किसी तरह कुण्डी बन्द करके ताला दिया और फिर होस्टल के प्रासाद के पिछवाड़े बगीचे में छिपता हुआ होस्टल से दूर चलने का प्रयत्न करने लगा । कहीं मानव की गन्ध पाते ही वह ठहर जाता था । कभी कभी पेड़ों की छाया से मिल कर छुपने का प्रयत्न भी करता था । होस्टल से दूर.....दूर लोगों के पीछे कुछेक फर्लांग पर कुछ जमीन पड़ी हुई थी जहां कुछ खेती भी की गई थी । सरदार उस लाश को पीठ पर उठाये हुये उस ओर ही जा रहा था । यद्यपि मार्ग में उसे अनेकों बार ठहरना पड़ता था, रुक कर इधर उधर देख कर सावधानी से फिर चलने लगता था । लगभग मील सवा मील चल चुकने के पश्चात् प्रायः अन्धेरा ही रह गया । दूर से दीखने वाली होस्टल की रोशनी भी दीखनी बन्द हो गई । सरदार अब तेजी से चल रहा था । थोड़ी ही देर में शायद वह अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गया । रखवाले इन दिनों थे नहीं, क्योंकि पकी हुई फसल तो थी नहीं । सरदार ने एक सबसे अधिक अन्धेरे कुछ सीले से स्थान पर पहुँच कर, कन्धे का भार पृथ्वी पर रख दिया । कमर से टटोल कर कुछ चीज निकाल ली, तत्पश्चात् कुछेक दूर पर चला गया । वहां से एक कुदाल उठा लाया । इस समय तक नौ बज गये थे, प्रायः आज बूँदा-बांदी का सा दिन था । सरदार जमीन खोदने में लग गये । वारिष बढ़ती जा रही थी । सरदार को इस से लाभ भी हुआ । वह कुछ निश्चिन्त हो गया कि ऐसे समय में भला इस सुदूर स्थान पर कौन आयेगा । सरदार निश्चिन्त भाव से भीगता हुआ गद्दा खोद रहा था । निरन्तर आधा घन्टे खोदने के पश्चात्

गह्वा खूब गहरा सा हो गया । जमीन पोली थी, अतः कोई विशेष कष्ट नहीं हुआ । फिर भी बारिष की बूंदों के साथ पसीने की बूंदें भी माथे से टपकने लगीं थीं । खोद चुकने के पश्चात् सरदार ने धीरे से लाश पर झुक कर कहा—इस बार सरदार की आंखों से दो बूंद आंसू टपक पड़े ।

“ओ मेरे अनजाने साथी, तुम्हारी रक्षा न कर सकी..... पर तुम्हारा उद्देश्य, तुम्हारा काम अधूरा न रहेगा.....” आज से ब्रत लेती हूँ कि तुम्हारे प्राणों की रक्षा न कर सकने पर भी, तुम्हारे मिशन की रक्षा करूंगी, चाहे जिस प्रकार और जितनी कठिनाईयों में से हो कर मुझे उसे खोज निकालना हो । देश के लाल ! आज तुम्हारी अन्तिम क्रिया भी ठीक प्रकार से न कर सकूंगी..... प्रेतलोक-वासी मुझे क्षमा करना.....” धीरे से लाश उस गड्ढे में रख दी गई । सरदार ने जो कि शायद कोई स्त्री थी, अपनी जेब से दियासलाई निकाल कर हल्की सी ज्वाला उस लाश के मुख से छुआ कर लाश पर मिट्टी डाल दी । जल्दी जल्दी गड्ढे को पूरा कर के मानो सरदार ने शान्ति की सांस ली । इस बार शायद सरदार को रोना याद आया । वर्षा से शरीर वस्त्रादि सब कुछ भीग गया था, फिर भी इस बार सरदार शान्त था । जल्दी जल्दी कदम बढ़ाकर कुछ ही देर में सरदार यूनीवर्सिटी के भीतर ही रेस्ट्रॉ के अहाते में पहुँच गया । देखते ही मोटा मालिक चिल्ला उठा—“ओ सरदार के बच्चे, कहाँ गया था । इस तरह हमारा काम हो चुका । ओरे क्या बारिष में था, तू तो भीगा हुआ है, अच्छा, जाकर आराम कर, कल से कोई छुट्टी नहीं मिलेगी ।” सरदार ने मन ही मन कहा, “कल से शायद छुट्टी ही तो लेनी पड़ेगी ।” ऊपर से सम्भल कर बोला “महाराज, कल से छुट्टी लेनी ही नहीं पड़ेगी, मेरी मां मर गई ।”

“अच्छा, अच्छा, जा, नहा धो तो आया है ?”

“हां” महाराज कह कर सरदार अपनी छोटी सी कोठरी की ओर खिसक गया। भीतर से कोठरी बन्द करके सरदार धरती पर बैठ गया, ज्योंही उसने अपनी पगड़ी उतार कर फेंक दी.....“अरे यह तो हमारी वही पूर्व परिचित युवती है.....यह सरदार.....”

“हे भगवान मेरा भाग्य.....क्या होगा ? चलो अन्तिम कर्त्तव्य भी पूरा हुआ। मेरे जीवन के नये अध्याय के प्रवर्तक ! तुम समाप्त हो गये हो।”

“नहीं जाओ.....जाओ.....” युवती पृथ्वी पर लोट लोट कर रोने लगी, उक्त व्यक्ति के लिए जिसका कि उस से किसी जन्म का भी सम्बन्ध न था, रत्ती भर भी सम्बन्ध न था।

उधर एक घन्टे की लम्बी चौड़ी बहस के पश्चात् जब उन तीनों युवकों ने आ कर देखा कि लाश अर्न्तधान है और कमरे का ताला वैसा ही लगा है तो तीनों ही भय से कांप उठे।”

“चलो बला कटी ! शायद भूत बन कर उड़ गया।” बलदेव ने कहा। कोट पैंट धारी युवक भय से कांप रहा था। कांपते स्वर में उसने कहा—“भाई ! मैं तो आज यहां रह न सकूंगा, चलो तुम्हारे ही कमरे में सो रहता हूं।

“और भूत मुझ से शायद डरते हैं।” हंसते हुये धोती कुर्ते वाले युवक ने कहा। किन्तु भय के साथ साथ तीनों कुछ निश्चिन्त से भी हो गये थे और वह अभागा युवक शायद क्रबर में आराम से सो रहा था।

“बेयरर”

:: ५ ::

“बेयरर, एक प्लेट पेटेडो चाप्स की और लाओ ।”

“लाया हुआ ।” झुक कर सरदार ने कहा और चुपचाप दूकान में चला गया । सरदार अभी हाल ही में विश्वविद्यालय के भीतर मिठाई आदि की दुकान पर नौकर हुआ था । यूँ तो मोटा मालिक बड़ा ही तेज आदमी है, अपने नौकरों से काम लेना भी अच्छी तरह जानता है, पर उस दिन बूँदा-बाँदी में हम छोटी उमर के सरदार लड़के को अपनी दुकान के पास खड़ा भीगते देख कर उसे कुछ दया आ गई । बालक शायद भूखा रहा होगा । दुकानदार ने डांट कर कहा—“चोर है रे ।”

“नहीं जी, नौकरी के लिये आया हूँ ।”

स्वर कोमल था कुछ भोगा हुआ सा । मालिक का दिल पिघल गया ।

“नौकरी करेगा ?”

“जी सरकार ।” दुकानदार ने ऐसा सभ्य नौकर पहिले नहीं देखा था ।

“क्या काम कर सकता है ?”

“सब कुछ सरकार, मिठाइया भी बना लेता हूँ ।”

“वेतन क्या लेगा ?”

“सरकार की मर्जी ।”

“सात रुपये मिलेंगे । रोटी चाहो तो मेरे लिये बना दिया करना, उसी में से खा भी लेना । मंजूर है ?”

“हुजूर का गुलाम हूँ ।”

“भीतर आ जा” कह कर दुकानदार बरामदे से भीतर चला गया । सरदार जी भी उसके पीछे पीछे चले गये । सरदार को एक कोठरी भी टूटी फूटी दुकान के पीछे मिल गई और सरदार की नौकरी भी दूसरे दिन से ही बहाल हो गई । लड़ाई के दिन थे, नौकर मिलते ही न थे, तिस पर बयालीस सन् था, क्रान्ति की चिनगारियां सुलग रही थी, युनीवर्सिटी यूं भी बदनाम थी, फिर भला इतना सस्ता नौकर वहां मिलता ही कहां ? दो एक दिन में लड़के निकाले जाने वाले थे । फौजियों को सारी इमारतें मिलने वाली थीं । ऐसे समय में सात रुपये का नौकर और फिर इतना समझदार, मेहनती और सयाना । दुकानदार प्रसन्न था । खाने आने वाले लड़कोंकी संख्या बहुत कम हो गई थी । फिर भी सरदार के काम में कमी न थी । जुबान तो इतनी मीठी थी कि आते-जाते जो भी एक बार दुकान पर आ जाता फिर बार बार आना ही चाहता । उस दिन किशोर और नारायण अपने सब मेहमानों को यहां ले आये थे । तीन बजे का समय था । यूं तो यहां दिन में भी किसी का आना टेढ़ी खीर थी, फिर भला भोजन कहां मिलता । लड़कों की अपनी रसोईयां प्रायः बन्द सी ही रहने लगीं थीं । बासे का पड़ित भी रसोई उठा चुका था । ऐसे समय एक उसी दुकान का सहारा था और फिर सरदार जी की सेवा और सभ्य बातचीत ।

सरदार जी ने आलू की तीन टिक्रियों सहित एक प्लेट और दूसरी प्लेट में कुछ रंगीन सी वस्तु, शायद चटनी हो, मेज पर रख दी, और फिर चुपचाप कुछ हट कर खड़े हो गये। पेड़ के नीचे पानी रखा हुआ था। सरदार जी कुछ झुक कर तीन गिलासों में पानी डालने लगे। दबी नजर से मेहमान की ओर भी देखते जाते थे। मेहमान छोटी उमर का लड़का सा था। अभी रखें भी नहीं आई थीं। कुछ चिन्तित सा दीख पड़ता था, बोलता भी कम था। सरदार जी की दृष्टि रह रह कर उसी पर जा अटकती थी। कोट पैंट धारी गोरे से युवक किशोर से तो हमारा परिचय हो ही चुका था। उसका खादी की धोती और कुर्ता धारी मित्र नारायण भी हमारे लिये अपरिचित नहीं है। सरदार जी को हम जानते हैं, फिर यह नया बालक कौन है ?

“जो हो, यह काम मेरे बस का नहीं है।” किशोर ने धीरे से स्वर में हड़ता से कहा।

“तो फिर पार्टी की मेम्बरी का दम क्यों भरते हो ?” नारायण ने ताना सा दिया।

“वह दिन और थे नारायण ! आज तो केवलमात्र गांधी टोपी पहिने होने से नर्क का द्वार क्षण भर में दिखाया जा सकता है। तुम्हें नहीं मालूम कि मेरी बिचारी मां को केवल मेरा ही सहारा है।” किशोर ने रुआंसे से हो कर कहा।

“हम सब की माताओं को केवल अपने पुत्रों का ही भरोसा है। गिरीश ! फिर तुम मुझे ही जाने दो, मेरी मां का मेरे बिना कुछ बिगड़ नहीं जायेगा, सो ऐसा हो सकता है।”

“तुम्हारे बिना यहां का काम कौन सम्भालेगा ?” मेहमान

ने सधे से निराश स्वर में कहा ।

“बड़ी आशा से यहां आया था नारायण ! खैर कोई बात नहीं, मैं आप ही चला जाऊंगा ।”

“खूब ! तब तो काम भी न होगा और तुम लौटकर भला आ ही कहां सकेगो ?” सरदार साहब के कान सदा इधर ही लगे रहते थे । अब मन-प्राण भी इधर ही आ अटके । और मौका न था । दुकानदार ने भीतर से आवाज दी “हरिसिंह ! ओ कहां मर गया, हरिया ।”

“आया सरकार !” और हरिया भीतर चला गया । थोड़ी ही देर बाद हरिया फिर बाहर आया । इस बार उसके हाथ में गर्म पकोड़े थे ।

“लीजिये सरकार, गर्म गर्म पकोड़े निकल रहे हैं ।” सरदार ने कोमल स्वर में कहा । खाने वालों का ध्यान उधर था ही नहीं । किशोर ने कुछ कठोर स्वर में कहा—“बस कुछ नहीं चाहिए ।” सरदार ने झिड़की की परवाह न करके कहा—“सरकार, यह मेहमान तो क्या रोज रोज यहां आयेंगे ? भला इन्हें पकोड़े तो खा लेने दें ?” भाव-भंगी कुछ ऐसी थी कि मेहमान को दृष्टि उठा कर देखना ही पड़ा ।

किशोर गम्भीर विचार मग्न था और नारायण भुंक्कलाया सा था । सरदार ने आंखों ही आंखों के इशारे से मेहमान की ओर मुस्करा कर निमन्त्रण दिया । मेहमान कुछ लापरवाही से देखता ही रहा और सरदार साहब पकोड़े की प्लेट मेज पर रख कर चलते बने । मेहमान अत्यन्त चिन्तित हो उठा, उसे जान पड़ा कि ऐसी मुस्कान कहीं देखी है, पर कहां—सो याद ही न आता था । फिर भी उस सरदार से बात करने की इच्छा अवश्य हुई ।

“यह सरदार कौन है यार ? भला यहाँ कैसे आ मरा ?”

उसने कहा—“क्या जाने इधर कुछ ही दिनों से दिखाई पड़ता है । है तो बेयरर, पर बड़ा ही सुशील और सभ्य ।” उत्तर दिया नारायण ने ।

“क्यों ? क्या इस पर भी मन्त्र फेंकोगे ?” किशोर ने म किया, पर गिरीश मेहमान ने गम्भीरता से उत्तर दिया—“यदि का, सके तो ।”

“खा चुके हो या और कुछ खाना है । खा चुके हो तो चलें किसी शिकार की तलाश में, शायद कोई काम की चीज मिल जाये ।” किशोर ने कहा—“चलो ।” मेहमान खड़ा हो गया । इस बार उसने फिर पीछे फिरकर सरदार जी की ओर देखा । सरदार दौड़ा आ रहा था इन्हीं की ओर । प्लेट में सरदार ने बिल ला कर रख दिया । किशोर बिल देखने लगा और नारायण चुपचाप बैठा था । गिरीश हाथ धोने के लिये वृत्त के निकट आया, साथ ही साथ सब की दृष्टि बचाकर एक छोटा सा रद्दी सा कागज का टुकड़ा गिरीश की जेब में पहुँच गया । चुपचाप गिरीश पानी से गोले हाथ अपने रुमाल से पोंछ कर बाकी दो साथियों के साथ बिरला होस्टल की ओर चल दिया । सरदार चुपचाप उन्हीं की ओर देखता रहा, “मैंने यह पहिचानने में गलती तो नहीं की, नाम भी वही है और काम भी वही । भगवान की इच्छा !” सन्ध्या तक सरदार काम में लगा तो रहा, पर उसका चित्त विभ्रान्त सा ही था । किसी काम में जी नहीं लगता था । पर काम तो करना ही था । मालिक बिना काम के थोड़े ही छोड़ सकता था । सूर्यास्त के साथ ही साथ सरदार ने मालिक से कहा—“सरकार सिर बड़ा दुखता है । डाक्टर से दवाई लानी है ।” मालिक भी सरदार की आवश्यकता को जानता था, कुछ घबरा कर बोला—

“दिन बुरे हैं, बुखार-उखार न हो जाये। पर इस वक्त कहाँ जायेगा, सबेरे हस्पताल से दवाई ले आना।”

“नहीं सरकार, यह दवाई हमें नहीं पचती। हम तो भदई या अस्सी पर जो हकीम रहते हैं, उन्हीं को डाक्टर मानते हैं। उनकी ही दवाई करते हैं।” दुकानदार को सरदार के ढंग और शीन-काफ की स्ती अच्छी तो नहीं लगती थी, पर थी लाचारी, क्या करते मन मार कर छुट्टी तो दी, पर कह दिया “जल्दी आना; बरतन भी साफ करने हैं और दुकान भी। रमइया आज जल्दी जाने वाला है, उसका बाप बीमार जो है।”

“अभी लो सरकार, एक घन्टे में आया।” सरदार चल दिया। अन्धेरा काफी हो चला था, सरदार चुपचाप बिरला होस्टल के पिछवाड़े जहाँ प्रोफेसर साहब के पशु बंधते थे, पहुँच गया। दोपहर वाला मेहमान वहाँ पहिले से ही टहल रहा था। उसे देखते ही उसने कहा—“क्यों सरदार मुझ से क्या चाहते हो?”

“और सरकार मुझ से क्या चाहते हैं?”

“क्यों, तुमने ही मुझे बुलाया है।”

“मैंने तो नहीं।”

“मुझे घूर घूर कर देख ही आप रहे थे सरकार।” कुछ छिठाई से उसने कहा।

“कैसे बातें करते हो, कुछ छान आये हो क्या?” चिढ़कर क्रोधित से स्वर में गिरीश ने कहा। सरदार ने इस बार दृष्टि में दृष्टि डालते हुये कहा—“जाने क्या क्या छिपे काम करते फिरते हो और फेर आंखे दिखाते हो।”

युवक शायद सब ओर से सतर्क था, उसने तुरन्त ही दाहिना

हाथ जेब में डाल कर कहा—“तुम्हारा तात्पर्य क्या है ? आखों के इशारे से बुलाते हो, अनजाने जेब में लिख कर डालते हो । होस्टल के पिछवाड़े अन्धेरे में आज जरूर मिलो, और ऐसी बातें करते हो । क्या तुम सी० आई० डी० हो, सच बोलो ?”

“सी० आई० डी० हूं भी तो मेरा कुछ बिगाड़ने की अपेक्षा इस समय शोर मचा कर तुम अपना ही कुछ बिगाड़ोगे । तुम्हारी दाहिनी जेब में पढ़ी पिस्तौल भी तुम्हारी इस समय रक्षा न कर सकेगी—यह समझ रखना, पर खैर बहुत हुई, आश्चर्य तो यह है कि तुमने मुझ पर विश्वास कर लिया, कुछ दूर चलोगे मेरे साथ ।”

“क्यों ?” स्वर में गहरा सन्देह था ।

“यूँ ही जरा धूमने फिरने ।”

“मुझे व्यर्थ समय नष्ट करने की फुर्त नही है ।”

“उस दिन फुर्त थी, जिस दिन आधी रात तक मृतप्राय शरीर को बीच में रखे किसी एक युवती के साथ नदी की छाती चीरते चले जाते थे ।” धीमे स्वर में सरदार ने कहा ।

“तुम कौन हो ?”

“अपनी भाभी को भूल गये ?” कान में झुक कर सरदार ने कहा ।

युवक एकाएक चौक पड़ा—“सच ? मैं तो जी गया भाभी ! पर सच ही यह स्थान उपयुक्त नहीं है, कहीं और चलें ।” कहते कहते सतर्कता से गिरीश ने एक बार सरदार पर गहरी तीव्र दृष्टि डाली । सरदार ने हंस कर अन्धेरे में गिरीश का हाथ पकड़ कर उसके कान में कहा—“सन्देह न करो, मैं वहीं हूँ ।”

रात्रि के अन्धेरे में हल्की रोशनी बचाते हुये दोनों प्राणी धीरे

धीरे छः दिन पूर्व जहां एक लाश दफनार्ह गई थी, उसी ओर चल दिये । गिरीश ने बात करना चाहा, पर सरदार ने संकेत से मना कर दिया । दोनों चुपचाप चले जा रहे थे गम्भीर शान्त, पर भीतर की अन्धेरी हलचल को भीतर ही भीतर छिपाये हुये ।

गृहस्वामिनी

:: ६ ::

मुझे क्यों तंग करते हो ? मेरा शरीर अस्वस्थ है, मन प्राण थके हुये । जीवन में बहुत सी निराशा लिये चली जा रही हूँ । मेरे दुःख का भार और क्यों बढ़ाते जा रहे हो भाई ?”

“बढ़ाना चाहता नहीं दीदी, पर क्या करूँ ? लाचार हूँ ।”

“दूसरे के हृदय के कोमल भागों का उपयोग करना तुम लोग खूब जानते हो । फिर भी शायद तुम्हारे पास हृदय नहीं होता ।”

बसन्ती ने झुंझला कर कहा ।

“दीदी शायद तुम उन अनेकों अनार्थों, भूखों को भूल जाती हो, जिनका कि चित्र मैं कई बार तुम्हारे सामने रखता हूँ ।”

“भूल तो नहीं जाती, फिर भी अपने सामने ही अपने बाल-बच्चों के मुख से छीन कर पति से चुरा कर जो रोटी तुम्हें देती हूँ, उसे देते हुये मेरे हृदय पर छुरियां चलती हैं, यह शायद तुम समझ भी नहीं पाते ।”

“समझता क्यों नहीं हूँ, लेकिन समझ कर भी समझना नहीं चाहता, शायद न समझने में ही मेरा कल्याण है ।”

बसन्ती बड़ी देर तक सिर झुकाए बैठी रही । न जाने किस अशुभ घड़ी में उसने अचानक ही उस परदेशी आगन्तुक को आश्रय

दिया था । सवेरे तक कांपती हिलती बसन्ती ने अनुभव किया कि उसके शरीर में भयंकर पीड़ा हो रही है । तीसरे दिन तक बसन्ती अचेत हो गई । श्रीधर को दूसरे ही दिन जिला बलिया सरकारी काम पर चला जाना पड़ा । उस दिन भी बसन्ती अचेत थी । नन्दू बाजार से सौदा लेने गया था । नीचे का दरवाजा यूँ ही भिड़काया हुआ था, तीनों बच्चे स्कूल गये हुये थे और बसन्ती ऊपर के कमरे में बेहोश पड़ी थी । लगभग आध घण्टे बाद बसन्ती ने कराह कर करवट ली । न जाने किन दो कोमल हाथों में बसन्ती का सिर थमा हुआ था । बसन्ती ने सिर हिलाना चाहा । दो कोमल सफेद हाथों ने बसन्ती के सिर पर कोमल सी थपकी देकर उसके मुँह में दो चम्मच दूध डाल दिया । बसन्ती ने धीरे से आँखें खोल दी । आँखों पर झुकी हुई दो तीखी और सीधी आँखें देखकर बसन्ती तेज़ बुझार में भी चौंक पड़ी । यह तो न श्रीधर का ही मुख था न शिशिर का ही, न विभा का ही और न सुनील का ही । तब यह कौन है, नन्दू भी तो नहीं, क्षणमात्र में ही बसन्ती का सर चकरा गया ।

“कौन” कह कर बसन्ती ने सिर झटक सा लिया ।

“मैं हूँ दीदी !” बसन्ती को यह नया अपरिचित सम्बोधन बड़ा ही अच्छा लगा, वह चुप ही रही । आगन्तुक स्वयं ही बोल उठा—

“आज यहां से फिर जा रहा था, द्वार देखकर अपनी दीदी की याद आ गई, सोचा कि उन्हें देखता ही चलूँ । हाथ जो लगाया तो किवाड़ खुल गये । नीचे कोई भी नहीं था । आप को खोजता ऊपर पहुँचा तो देखता क्या हूँ कि मेरी दीदी अचेत पड़ी हैं । बस फिर अपना गंवारू उपचार कर दिया न आरम्भ । भगवान का धन्यवाद है कि आपको चेत तो हो गया ।”

बसन्ती ने जीवन में कभी भी किसी दीदी कहने वाले का परिचय नहीं पाया था। यह नहीं कहा जा सकता है कि उसके अचेतन मन में यह भावना ही नहीं थी। जो भी हो, आज उसके मन-प्राण खिल उठे। बसन्ती ने कहराते हुये धीरे धीरे कहा,—

“तुम हो कौन ?”

“दीदी, जिमे विपत्ति काल में आशय दिया जाता है, उसे इतनी जल्दी भूल भी जाया करते हैं क्या ?”

“ओह !” इस बार बसन्ती का मन विरक्ति से भर गया। फिर भी उसने करवट बदल कर इस बार उस व्यक्ति के मुख पर दृष्टि डाली। कमल कमनीय कान्ति, सरल सी आकृति वाला कोई पच्चीस वर्षीय युवक था वह, भरा पूरा शरीर, हंसमुख चेहरा। बसन्ती उस सरल मुख की ओर घृणा से देख सकी ही नहीं। इस बार उसने स्नेह भाव से ही कहा—“मैंने तुम्हें फिर आने को मना किया था, फिर भी तुम क्यों आये ?”

“आप मना कर भी दें, तब भी क्या मैं आप को अब कभी भूल सकता हूँ दीदी।”

इस बार उसने शिशिर की सी ही सरलता, जिह और अधिकार भरे स्वर में कहा। इस अनाधिकारी के अधिकार की अवहेलना बसन्ती इच्छा करके भी न कर सकी। जो कहो, श्रीधर की अनुपस्थिति में बसन्ती की सेवा होती ही रही। बसन्ती भी न जाने क्यों उसे सरल भाव से ग्रहण करती रही। यद्यपि घर में और किसी से भी नवागन्तुक का परिचय हुआ ही नहीं, बसन्ती ने फिर भी उसे अनिल नाम से पुकारना आरम्भ कर दिया। उन बातों को दो मास बीत गये, किन्तु उसके पश्चात् अनिल घर में समय असमय आता ही रहा। बसन्ती

अनिल के आदेशानुसार उसका घर के अन्य किसी भी प्राणी से परिचय न करा सकी। फिर भी समय कुसमय अनिल बसन्ती की गाढ़े समय के लिये बचाकर रखी हुई पूंजी पर हाथ लगाता ही रहा। बसन्ती को यद्यपि अनिल के काम से सहानुभूति थी, उसे यह भी ज्ञात था कि वह अनिल की सहायता करके पति के उद्देश्य, उनके कर्तव्य को, घात पहुँचा रही है। फिर भी वह प्रयत्न करके भी न तो अनिल को दुस्कार ही पाती है, और न इन्कार ही कर पाती है। अनिल भी बसन्ती के हृदय का कोमल स्थान पकड़ पाया है, उसी से वह भरपूर लाभ उठाता है। आज भी इसी उद्देश्य से वह आया था। दोपहर के समय कोई भी घर नहीं होता। यही अनिल के आने का समय होता है।

“सचमुच ही दीदी तुम्हें ठगता हूँ, बहुत ठगता हूँ। फिर भी लाचार हूँ, दीदी मुझे धन की आवश्यकता है, अपने लिये नहीं, देश के लिये, तुम्हारी मातृभूमि के लिये बहिन ! पर जाने दो, वैभव के स्वामी की तिजोरी में रखा हुआ सुरक्षित धन भी मैं निकालता, परन्तु उससे कहीं अधिक मुझे तुम्हारे स्नेह-सने यह चार पैसे अच्छे लगते हैं। फिर भी जाने दो, आज यों ही काम चला लेंगे। तुम्हें आज और कष्ट न दूंगा।” अनिल ने भारी आंखों से कहा।

बसन्ती की आंखें भीग गईं।

“अनिल, मायके में मेरे न कोई भाई हैं, न बहिन, तुम्हें देश के नाते, अथवा दीदी होने के नाते कुछ देना नहीं चाहती, यह बात नहीं है। जो चाहता है, न सिर्फ मेरा, वरन् तुम्हारे जीजा जी का भी कि देश के लिये अपने रक्त की अन्तिम बूंद तक छुटा दें। पर जाने दो, उस पुरानी कहानी को। आज तो हम भी लाचार हैं.....।”

दोनों ही कुछ देर चुप रहे। फिर बसन्ती ने उठ कर कमरे से अपनी मां की दी हुई चार चूड़ियां लाकर अनिल के सामने रख दीं।

“अनिल, आज तुम यह ले जाओ। तुमसे यह भी नहीं पूछूंगी कि यह किस काम में लगाये गये, पर यह ध्यान रखना कि तुम्हारे पीछे किये गये मेरे किसी काम से तुम्हारे जीजा जी के दिल पर ठेस न पहुँचे।”

अनिल ने बड़ी ही अनिच्छा की मुखमुद्रा से चूड़ियां उठा कर जेब में डाल लीं और फिर उसी लहजे में कहने लगा—“दीदी, आज हम लुक-लुककर छिप-छिपकर जो काम कर रहे हैं, कल दिन के प्रकाश में जब उसका फल देखोगी, भले ही उस समय हम हों, अथवा न हों, तब हमारे आज के परिश्रम का मूल्य जानोगी।”

“क्या जानूंगी और क्या नहीं, सो नहीं जानती। पर यह अवश्य जानती हूँ कि आज भी चार भले मानस तुम्हारे कामों की अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। आज तुम कहते हो कि भारत में अंग्रेजी राज्य का अन्त कर देंगे, किन्तु तुम्हारी इस उछल-कूद से कहां तक भारत स्वतन्त्र हो सकेगा, सो कौन जाने?” बसन्ती ने निराश से स्वर में कहा।

“दीदी, भारत के नब्बे फीसदी वासी यही कुछ तो कहते हैं। फिर भी तुम देख लेना, एक वर्ष के भीतर भीतर ही भारत स्वतन्त्र हो जावेगा। अच्छा अब जाता हूँ।” धीरे से चरण छू कर अनिल चला गया। बसन्ती उसी प्रकार चूल्हे के पास बैठी रही। चूल्हे पर चढ़ी हुई पतीली में खद-बद की आवाज हो रही थी। पतीली पर ढकी हुई तरतरी के किनारों से भाप निकल रही थी, और बसन्ती मुख नीचा किये हुए सोच रही थी, “विचित्र है यह लड़का। शकल

सूरत से भले घर का जान पड़ता है। भाषा और वेश भूषा भी कुछ बुरे घर का परिचय नहीं देती। फिर भी यह पैसा पैसा बटोरता फिरता है। कहता है हमारे पास बड़ा काम है। समय असमय कपड़ा पैसा हर प्रकार की वस्तुयें ले जाता है। शायद और भी भले घरों से इकट्ठा करता हो, किन्तु न तो अपना भेद ही देता है, और न परिचय ही। जो हो, इसका उद्देश्य कभी भी बुरा नहीं हो सकता है।” नन्दू ने पास लाकर दालचीनी की पुड़िया रख दी। दालचीनी बिलकुल ही नहीं मिलती थी। प्रायः न जाने कितने दिनों से बसन्ती अपनी देसी दवा में डालने के लिये दालचीनी की खोज में थी। न जाने आज कहां से नन्दू मांजी की दवाई के वास्ते दालचीनी ले आया। बड़े आडम्बर के साथ ध्यान आकर्षित करते हुए नन्दू ने कहा—“मां जो, देखो आज क्या लाया हूँ ?”

बसन्ती अन्यमनस्क तो थी ही, बोली—“दिखा क्या लाया है ? सब्जी लेने भेजती हूँ, तो तीन घण्टे लगाता है।”

“मांजी, दालचीनी लाया हूँ, देखो तो।”

बसन्ती में उत्सुकता नाम मात्र को भी न थी। फिर भी नन्दू के परिश्रम को सहज ही उड़ा देना कुछ उचित ना जान पड़ा। पुड़िया उसके हाथ से ले ली। उत्सावर्धक दो वाक्य भी कहने पड़ेः—

“अरे यह तो तू ने कमाल ही कर दिया नन्दू ! भला लाया कहां से ? अच्छा, कथा फिर सुनूंगी, जरा बावू के कमरे में झाड़ू तो लगा आ।”—कह कर बसन्ती ने नन्दू को किसी प्रकार टाला। दालचीनी की पुड़िया हाथ में ही थी, ज्यों ही उठा कर पटरे पर रखने लगी कि कागज पर दृष्टि पड़ गई, मोटे लाल अक्षरों में लिखा था—
“सन् अठारह सौ सत्तावन का मूल्य।” बसन्ती की उत्सुकता बढ़ी।

सन् अठारह सौ सत्तावन का भारत के इतिहास में स्थान वह जानती थी । एक सांस में सारा कागज पड़ गई । पढ़ते ही मानो धरती उसके तले से खिसक गई । सो यही क्या अनिल भी कहता है । वह भी क्या क्रान्तिकारी है । तो क्या वह.....? बसन्ती फिर आसन पर बैठ गई । कागज समूचा ही एक बार फिर पड़ डाला । कागज में सत्तावन के ग़दर का एक संक्षिप्त सा इतिहास था और फिर युद्धकाल में ब्रिटिश सरकार से हर प्रकार के प्रसहयोग करने की प्रेरणा तथा उसी उद्देश्य को ले कर बागी नाम की एक युवक दल की प्रधान मण्डली को हर प्रकर की सहायता देने की अपील । उसमें काले अत्याचारों के कुछेक कारनाम थे तथा हर प्रकार के सरकारी कामों पर भारतीय मोहर लगाने के उपाय ।

बसन्ती का मन भारी होरहा था । फिर भी आज उसने एक बड़े भारी सन्देह से किनारा कर लिया । वह कुछ भी क्यों न कहे, मेरा अपना भी तो कुछ अस्तित्व है; मेरे अपने भी तो कुछ स्वतन्त्र विचार हैं । भले ही वह सरकारी मशीन के एक पुर्जे हों, मैं तो स्वतन्त्र हूँ.....मैं अपने देश की गाढ़े समय.....इसी समय बसन्ती को युवक तेजस्वी श्रीधर याद आगया । जो हो, यद्यपि आज का श्रीधर उस श्रीधर का छाया मात्र भी नहीं है, फिर भी मुझे वह श्रीधर लौटा लाना है । मुझे अपना पुराना श्रीधर पाना है । वह कुछ भी समझ नहीं पा रही थी, फिरभी उसने निश्चय किया कि इस बार अनिल के आने पर अपने लिये भी काम निश्चित करूंगी, अवश्य करूंगी । खुशार ने अभी तक पूरी तरह पीछा नहीं छोड़ा था । शरीर से कमजोरी के निकलने की तो बात हो क्या, रोग के कीटाणु भी अभी नहीं निकले थे, फिर भी बसन्ती अब शान्त नहीं रहेगी । ओह हमें गुलाम बनाये रखने के लिये हम पर इतने अत्याचार किये जाते हैं.....इसका

प्रतिकार करना ही होगा। बसन्ती के मन के भीतर की पन्द्रह वर्ष पूर्व की सोई हुई तेजस्विनी बालिका जाग उठी और बसन्ती निश्चय पूर्वक चूल्हे की लपटों में मानो अपने मन की भीतर की ज्वालाओं को पढ़ने का प्रयत्न करने लगी।

विस्फोट

:: ७ ::

“काहे जू, उठि हौ नाहीं ?”

“का करी, हमरी सारी देही दुखत है।” कराहते हुये उसने टूटी चरपाईया पर लेटे ही लेटे उत्तर दिया। सचमुच ही उसका चेहरा कुछ गम्भीर था और ओठ नीले से पड़ रहे थे, न जाने चिन्ता और विचार गम्भीर्य में सारी रात दान्तों के दबाने से अथवा दर्द से। जो हो रमईया की मां ने फिर कोई प्रश्न नहीं किया। चुपचाप उस छोटी सी गन्दी ओपड़ी में झाड़ू देती रही। इसी बीच टूटी चरपाई पर लेटा हुआ व्यक्ति फिर आंखें बन्द करके कुछ सोचने सा लगा।

“सुन रमईया की मां, रमईया काम पर चला गया का ?”

“और बैठा रही ? सूरज हाथ भर चढ़ि आया है। तुमहु रठो, सौच सनान करो, नाज पानी करऊ।”

“हमरी देही दुखत है, जी भिन्नाये रहा है। हमका कुछ नाहीं चाही, तुम अपने काम पर जाओ, कुछ नाहीं चाही। हम जब जी करी हैं, खाय पी लेब।”

“तुमरी गत मित ही सूझ नाहीं पड़त है । दिन भरी दौड़ लगावत फिरत हौ, देही दूखे न तो का होय ।” बड़-बड़ाती हुई गृहस्वामिनी उस झोपड़ी का कूड़ा समेट कर किसी और की धरती पर उसे फेंकने चल दी । उसी झोपड़ी के एक किनारे पर जलती हुई आग की लपटों को टूटी चारपाई पर पड़ा हुआ व्यक्ति अत्यन्त ध्यान पूर्वक देखता रहा । उसके चेहरे पर एक आने और दूसरी जाने वाली चमक का कोई मनोविज्ञान वेत्ता ही ध्यान पूर्वक पढ़ सकता था । बूढ़ी की बड़-बड़ाहट भी युवक को तनिक हिला न सकी । वह जैसे का तैसा चारपाई पर लेटा रहा । बूढ़ी ने झोपड़ी साफ करके चूल्हे पर तवा रखा । बाजरे की छः मोटी-मोटी रोटियां तैयार कीं, सेकीं और फिर उठकर चूल्हे के ऊपर वाले ताख में से एक गन्दे कपड़े की पोतली खोलकर गुड़ निकाला । चारपाई पर लेटा हुआ व्यक्ति इसी ओर ध्यानपूर्वक देख रहा था—न जाने किसी विचार में मग्न अथवा बूढ़ी के सधे हुये हाथों की ओर देखता हुआ । बूढ़ी ने गुड़ की तीन डलियां बनाई । दो डलियां और चार रोटियां उसी गन्दे कपड़े में लपेट लीं और एक टुकड़े सहित दो रोटियां उसी ताख पर रखकर उठ खड़ी हुई । उसे स्टेशन मास्टर के घर काम करने जो जाना था । लड़का रेलवे में कुली था, पर माँ को भी तो पेट भरने के लिये पूरा पूरा परिश्रम करना ही होगा, नहीं तो यह पापी पेट कैसे भरेगा । देर हो रही थी, बुढ़िया झुंझला भी रही थी, पर घर में पड़े हुये इस बीमार बालक को छाँड़कर जाते हुये भी उसकी छाती फटती थी । लेकिन उपाय भी क्या था ? बहू जो यह बहाने थोड़े ही सुनेंगी । बूढ़ी ने एक लोटा पानी से भरकर टूटी चारपाई के पास रख दिया । कुछ स्नेह भरे स्वर में कहा भी—“बेटा तनि उठौ भी... पेट में कुछ परि है ना, ता देही और दूखे लागी...पित्त भी बढ़ि है...तनि हिम्मत

करौ.....” और भी न जाने क्या क्या बूढ़ी कहती जायेगी और वह व्यक्ति शायद यह सब-कुछ सुनने को तैयार नहीं था। उसने जल्दी से कहा—

“अमई ने उठित है।” बूढ़ी कुछ निराश सी तो हो गई, फिर भी बक-भक करने को उसके पास समय ही कहाँ था ? उसने आहस्ते से कहा—“रोटी आले पर धरी है। देखत रहियो बिलइया ना खा जाये।” और अपनी पोटली उठा कर अरने और बेटे के लिये खाने का सामान लेकर चलती बनी। बूढ़ी के बाहर जाने हो वह व्यक्ति चारपाई पर उठकर बैठ गया—“.....तुम्हारी रोटी दाल का यथायोग्य प्रबन्ध कर सके, इसीलिये तो इस अवसर से हम लोग लाभ उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं। किसकी है यह रेल गाड़ियां, यह स्टेशन, यह सब कुछ ? तुम्हीं लोगों की तो हैं, फिर भी तुम भूखे हो, नंगे हो। तुम्हें गुड़ की डली के साथ दो मांटी बाजरे की रोटियां भी मोहन भोग लगती हैं, और यह अभागे गोरी चमड़ी वाले विदेशी तुम्हारी कमाई के ही बल पर खाते हैं—डोस्ट और मखन। इस जुलम को आज समाप्त करना है, अवश्य ही करना है।” द्वार पर खटका हुआ। युवक चौक कर चारपाई से नीचे कूद पड़ा। उसने धीमे से स्वर में कहा—“वेलकम।”

उत्तर देने के लिये था एक काला कलूटा किरानी किसी साहब का खानसामा सा लगता था। हाथों पैरों पर मैल भी खासी जमी हुई लगती थी।

“थैंक्यु”—उसने एक खास लेहजे में कहा।

“सब ठीक है ?”

“तब ही मैं तुम्हें यहां दीख रहा हूं।”

“वहां क्या बना ?”

“खूब रहा, खाश खाश जगह ताजे लग गये हैं। विजय

अभी तक तो हमारी है। शान्ति और वरदा तीसरे मोर्चे तक पहुँच गये हैं और आज रात को हमारी बारी है।”

“ठीक, पर यह तो हुई विध्वंसात्मक नीति की बात, रचनात्मक का क्या हाल है।”

“गिरीश तो किसी प्रकार भी रचनात्मक में आना चाहता ही नहीं। जब से प्राण.....”

“स्टेशन पर आग लगाते हुये जल कर प्राण गवा चुका है। गिरीश काम में तो बड़ी लगन से लगा हुआ है, पर विध्वंसात्मक में ही बार बार आना चाहता है। स्वामी जी किसी प्रकार भी उसे विध्वंसात्मक में रखना नहीं चाहते। अभी तो वही गांव गांव घूमकर प्रचार कार्य भी कर रहा है और अन्न सरकार के हाथ में न जा पड़े, इसका भी प्रयत्न कर रहा है। हां, इसी बीच में उसने एक और साथी जुटाया है। उसका नाम है सरदार हरीसिंह, और काम गजब के। छांकरा है यार, अभी मूँछे तक नहीं आई हैं। हं भी गजब का खूबसूरत आँर फुर्तीला।”

“अच्छा, उससे तो अगले मुकाम पर परिचय हो जायेगा, पर इस समय अवस्था क्या है ?” पहिले युवक ने कुछ चिन्ता से कहा।

“अवस्था तो चिन्ताजनक किसी प्रकार नहीं कही जा सकती। फिर भी अनिल ! एक बात तो निश्चित सी है। स्वामी जी कहते हैं कि अन्त में हार तो हमारी ही होगी, क्योंकि हमारी क्रान्ति कुछ सुगठित ज्ञान-मयी क्रान्ति तो है नहीं, फिर भी हमें सन्तोष है कि इस महाप्रसाद के खयबन में कुछ भाग हमारा भी रहेगा ही।”

“यह सब नहीं पूछता। पूछता हूँ दल की अवस्था।”

“सो परसों सन्ध्या को स्वामी जी से ही पूछ लेना। इस समय

तो आगे के काम की बात सोचो ।”

“देखो, तुम मूर्ख ही नज़ीर, आग के काम की बात क्या इस समय की जायेगी । अच्छा सुनो, आज माई शाम के सात से पहिले आयेगी नहीं, और रमईया तो दस बजे से पूर्व नहीं आ सकेगा । इधर सब कोई मुझे रमईया का किसी एक रिरते का भाई करके पहचानते हैं । तिस पर मैं हूँ आज बीमार, मुझे तो वैद्य जी के पास जाना होगा और तुम मौका देख आओ । रात का काम मैं कर चुका हूँ, तुम इस समय केवल यही देख आओ कि तार भली प्रकार छिपा हुआ है अथवा नहीं । इन्टेनसिटी भी हो सके तो जांच आना और फिर मुझे दो बजे यहीं मिलना । कोई पूछे तो कह देना चमरडा गांव से रमईया की बहिन का सन्देशा लाया हूँ, पर कोई मिलेगा ही नहीं ।”

“तुम सचमुच ही बीमार हो क्या अनिल ?”

“बिपत्ति को निश दिन मुख खोलकर निमन्त्रित करने वाले शरीर से बीमारी भी डरती है, फिर भी आज का यही स्वांग है ।”

“ओह, सचमुच ही अनिल, अगर हम किसी तरह देश को आज़ाद कर पाये तो देश की तवारीख़ में हमारा नाम हमेशा के लिये जिन्दा मिसाल बन जायेगा ।”

“अभी तो तुमने कहा है नज़ीर कि स्वामी जी कहते हैं कि हम जीतेगें नहीं ।”

“वह कहते तो जरूर हैं पर मुझे यकीन नहीं आता कि इतनी सुरिकलात के बीच, इतनी तकलीफें सहकर भी जो काम हम कर रहे हैं सो क्या बिल्कुल फिज़ूल ही हैं, यह कभी हो सकता है । पैसे की दिक्कत अज़हद है, तुम तो किसी न किसी तरह स्वामी जी से बिना मांगे ही काम चला लेते हो, गिरीश भी कुछ नहीं लेता लेकिन कुरेशी और बिनायक को तो कुछ न कुछ भेजना ही पड़ता है ।”

“प्रचार-कार्य में भी कुछ न कुछ खर्च होता ही होगा।”

“हां, सो भी है, तिस पर स्वामी जी की बड़ी मर्जी है इस आन्दोलन को कोई न कोई शक्ल देने की, पर दुःख तो यह है कि वह यूं ही चल रहा है टूटा फूटा सा, लंगड़ा लंगड़ा सा।”

“हम और कर भी क्या सकते हैं ? हमारे पास न तो साधन ही हैं और न कोई अन्य शक्ति ही। ऐसी अवस्था में किया भी क्या जा सकता है ? १९३६ में तो देश ने सुभाष की आवाज सुनी नहीं, आज जब कि हम तैयार भी न थे और हमारे नेताओं के शब्दों का अर्थ भी हम तक ठीक पहुंच पाया नहीं था, हमारी नैतिक लड़ाई खिड़ गई। जो हो, संक्षेप में कहानी तो यह है कि आज भी हम करेंगे तो अपनी सी ही, चाहे परिणाम कुछ भी क्यों न हो।”

“अच्छा, अब चलता हूं, दो बजे आऊंगा।” कहकर नजीर उठ खड़ा हुआ। अनिल चुप ही रहा। नजीर फिर लौटा।

“कुछ खाने को होगा अनिल ?” अनिल ने बिना बोले ही ताक की ओर इशारा कर दिया। नजीर भी इस बार बिना बोले-चाले ही बची हुई अनिल के हिस्से की ताख पर रखी दो बाजरे की रोटियां और गुड़ की डली जेब में रखकर चल दिया। अनिल को स्वामी जी की ओर से आज्ञा मिली थी—आज रात को स्थानीय स्टेशन को भस्म कर डालने की। निश्चय के अनुसार उसका साथी नजीर भी आ पहुँचा था। रातों रात यह काम समाप्त करके नजीर कल सूर्योदय से पूर्व ‘सतना’ पहुँच जायेगा। दिनभर की गति-विधि देख कर अनिल भी कल सन्ध्या से पूर्व ही नजीर से मिलकर कल रातों-रात सरकारी गोदाम पर छापा मारेगा। अन्य दो साथी भी वहीं मिलेंगे। वहीं उन्हें आगामी कार्यक्रम सम्बन्धी आदेश मिलेगा। कल

रात तक का कार्यक्रम तो निश्चित है ही । अनिल अत्यन्त चिन्तित हो उठा था । इधर चार मास बीत गये उसे चोरों, उठाईगोरों की तरह छुप-छुपकर मांगते । फिर भी उसके शरीर में न थकान थी और न मन में भय । यहां तक कि—“.....इलाहाबाद कालिज में पढ़ते हुए छात्रों के मन में एकाएक एक भयङ्कर उद्वेग की लहर उठी । फिर लाल खूनी पोस्टर...गिरीश की ओर से शक्ति दी गई । उत्तेजना और क्रान्ति की चिनगारी भी कुरेशी की ओर से सुलगाई गई.....” —पहली चिनगारी को अतीत के स्वप्नों की तरह याद करने की भी उसे फुर्सत न थी । एक क्षण के लिये उसे फर्स्ट इयर में अपने साथ पढ़ने वाली एक लड़की का भोजा मुख याद आ गया । कितनी जाग्रत थी उसके मन-प्राण की ज्वाला । दरिद्र कुली के दरिद्र रिश्तेदार का स्वांग करते हुये भूखे, नंगे और दर्द-पीड़ा की निश दिन वार सहते हुये देश के दीपक पर जलने के लिये ही बने हुए परवाने अनिल को डी० एस० पी० मजुमदार की पत्नी अपनी फर्स्ट इयर की सखी का उत्तेजनापूर्ण मुख याद आ गया । काश कि आज वह हमारी...नहीं...नहीं...डी० एस० पी० मजुमदार की सम्पत्ति, उसकी विवाहिता पत्नी...अनिल का मुख सूख गया । उसने मन ही मन दुहराया—“परवाह अब किसे है जेलों, दमन की प्यारो...एक खेल हो रहा है फांसी पर भूल जाना ।” सचमुच ही वह इस प्रकार खड़ा हो गया, मानो फांसी पर उसी समय चढ़ना हो ।

राग-रंग

:: ८ ::

“नारी का तृणिक सुख भी तुम्हें इतना चुभता है मजूमदार !”

“शायद नहीं, पर तुम इतनी जल्दी बिगड़ क्यों उठती हो सन्ध्या ?”

“सो बिगड़ना क्या तुम्ही लोगों का अधिकार है ? जाने दो, आज की भीनी सन्ध्या कुछ इन्ही बातों के लिये है नहीं। चलो अब क्लब चलते हैं.....फिर वहां.....वहां.....टेनिस.....ब्रिज और.....देखो तुमने सुना मेरा आज का पार्टनर वहीद कमाल का खेलता है।.....”

“तुम जरूर जाओगी क्या ? मैं तो कहता था आज रहने देती, कल दोनों साथ चलते।”

“हूं, चलो कल तुम भी साथ हो लेना लेकिन आज तो मुझे जाना ही होगा, वहीद से वायदा कर चुकी हूं और यूं भी तो तुम एक आध घंटे में बाहर जाओगे ही, तब क्या मैं बैठी तुम्हारे नाम की माला ही जपा करूं ?”

“वैसा नहीं कर सकती क्या ?” बड़ी दीनता से कहा—
मजूमदार ने और उसको आश्चर्य चकित स्तम्भित सी देखती हुई खिल-खिलाकर हँस पड़ी सन्ध्या।

“सो भई मुझसे तो हो सकेगा नहीं। शायद बढी करती रही हो।” बढा ही कढवा ब्यंग था, पर मजूमदार शान्ति से पी ही गये, शायद लाचारी से।

“देखो यह सब झूठ-मूठ के ढोंग मुझसे नहीं हो सकते। मैं तो सीधी बात जानती हूँ और सीधी राह ही चलती हूँ। आनन्द का साधन सबसे सस्ता और अच्छा है। विवाह... इसीलिये मैंने तुमसे विवाह करना स्वीकार भी कर लिया था। पर इसका यह अर्थ तो नहीं कि मैंने तुम्हारा बन्धन स्वीकार कर लिया है। मेरे लिये विवाह का अर्थ स्वतन्त्रता है, कुछ बन्धन नहीं। न होगा इस विषय पर किसी दिन क्लब में वाद-विवाद रखेंगे, तुम इसका विरोध ही कर देना, भला आज तो अब समय रहा नहीं है।” सन्ध्या ने अपनी सुन्दर कलाई पर लगी हुई घड़ी में देखा तीन बज चुके थे कभी के... उसे क्लब पहुँचना था पांच बजे। इसी बीच शृङ्गार भी तो करना था। सन्ध्या मजूमदार को बरामदे में अकेला हो छोड़कर अन्दर चली गई। मजूमदार हथेली पर सिर रखे हुये सन्ध्या के शब्दों पर विचार कर रहा था—‘विवाह का अर्थ है स्वतन्त्रता, कुछ बन्धन नहीं।’

जोगेश अथवा योगेश मजूमदार का जन्म भरे पुरे घर में हुआ था। मेज़ पर खाना खाना, छुरी कांटे से रोटी का टुकड़ा तोड़ना, और कार में बैठ कर सैर करने जाना ही तो उसने जन्म से देखा था। छोटी सी उम्र में सरकारी नौकरी भी मिल गई, हो गया डी० एस० पी०। अधिकार भी और शान भी, वेतन भी चोखा और सारी जिन्दगी का कमाया हुआ पिता का रुपया भी बैंक में। कभी थो ही क्या? माता बचपन में ही मर गई थी और पिता थे चिर रोगी। घर जायदाद का कर्ता-धर्ता था एक मात्र पुत्र योगेश। सैकड़ों-हजारों रुपये प्रतिदिन हाथों से निकलते थे, तिस पर काम रोब जमाने का और बाटने-

डपटने का । योगेश आरम्भ से ही बड़ा भारी ब्रिटिश सरकार का समर्थक था । शायद उसका ख्याल था कि उसका अस्तित्व ही उसी पर निर्भर है । जो हो, बाईस वर्ष तक पहुँचते पहुँचते मंगनी और चौबीस वर्ष की आयु में योगेश मजूमदार की शादी हो गई । लक्ष्मी सी रूप, यौवन और अतुल धन राशि सम्भाले हुये जिस दिन बहू ने घर में प्रवेश किया, श्वशुर ने धीमे से स्वर में बहू को प्रणाम का उत्तर देते हुए कहा—“अपनी सास जैसी महिमामयी बनो ।” योगेश ने आशीर्वाद नहीं सुना किन्तु नई विवाहिता बहू ने सोचा—“कैसी होगी वह रमणी जिसे उसकी मृत्यु के दस वर्ष बाद तक भी यह व्यक्ति भूल सका नहीं है, जिसकी कल्पना, जिसका आदर्श हो इस वृद्ध की इहलोक की सब से बड़ी सम्पत्ति है, जिसे कि वह अपने अत्यन्त प्रिये अतिथि को आज दे डालना चाहता है ।” थोड़े ही दिनों में श्वशुर को विश्वास हो गया कि बहू अपनी सास जैसी महिमामयी ही है परन्तु इस से क्या ? योगेश को एफ० ए० पास, गुणगरिमा की खान, संगीत-शिल्प में पारांगत, गम्भीर विदुषी पत्नी भी मनोमूकल जान पड़ी नहीं । उसके शब्दों में बहू में ज्योति तो थी पर चकाचौंध उत्पन्न कर डालने वाली नहीं । बहू में रूप तो था, पर जला डालने वाला नहीं, सेवा की तो बहू साक्षात् मूर्ति थी पर टेनिस खेलना जानते हुये भी क्लब में उसे जाने का समय ही नहीं मिलता था । परिणाम यह हुआ कि योगेश की पत्नि का पूरा पूरा सुख नहीं मिला । उधर श्वशुर बहू को जब तक जीते रहे, देवी की तरह पूजते रहे । यहां तक कि पिछले मार्च में जब उनकी मृत्यु होने लगी, तब उन्होंने एकान्त में दुल्हिन को बुला कर कहा—“बहू ! सामने न आकर भी जो तुम बेटे की तरह सदा सेवा करती रही हो सो, कुछ मुझ से छिपा तो है नहीं । फिर भी योगेश की दृष्टि कुछ ठीक नहीं जान पड़ती । जो हो, शरमाने की जरूरत

नहीं, तुम तो मेरी पिछले जन्म की बेटी हो और यूँ भी बेटी ही हो। वसीयत तो मैंने लिख ही ली है, उसकी नक़ल भी मेरे वकील के पास है। यह एक नक़ल तुम भी रखलो। यूँ तो तुम स्वयं भी समझदार हो और मैं क्या कहूँ ?” आठ दस दिन पश्चात् बूढ़े रबसुर तो स्वर्ग सिधार गये। उधर योगेश को जब वकील से ज्ञात हुआ कि धन का केवल स्थायी अंश, दो चार कोठियाँ और तीन चार दुकानों में से भी दो दुकानें एक कोठी और सारा नक़द बैंक का रुपया बहू को मिला है। उसे मिले हैं शेष दो बंगले और तीन दुकानें। योगेश का दिमाग गर्म हो उठा। विशेषतया इस विचार से कि यह सब कुछ पत्नी के कहने पर ही पिता ने किया होगा। योगेश ने मुँह से तो कुछ कहा नहीं। किन्तु उसके तौर तरीके बदलते तनिक देर नहीं लगी। दिनोदिन बहू की ओर से सेवा, और योगेश की ओर से उपेक्षा बढ़ती ही गई। बहू तो वसीयत की नक़ल को लिये हुये बन्द लिफाफा न जाने कहां डालकर भूल गई थी, किन्तु नहीं भूले तो योगेश मजूमदार डी० एस० पी०।

फिर किस्सा संक्षिप्त सा ही है। प्रतिदिन की सेवा, स्नेह और उपेक्षाभरी हलचल बढ़ती ही गई। यहां तक कि उन्नीस वर्षीय बहू का का जीवन एक भारी मुसीबत सी बन गई। अभी उसी दिन बहू ने मेहतरानी की लड़की को निमोनियां हो जाने पर उसे अपनी एक पुरानी ज़री के काम की गरम शाल दे डाली। बाहर बरामदे में खुले भाग में बैठा योगेश देख रहा था। जमादारिन शाल लिये जा रही थी। योगेश ने देखकर कहा—“अरी यह शाल क्या चुराकर ले चली है” जमादारिन समझी शायद मज़ाक कर रहे हैं।

“जुग जुग जिन्नों भइया, लाखों बरस की उम्र हो। बहू रानी का राज बना रहे — यहां क्या चोरी की ज़रूरत है। बहू रानी तो ऐसी दयावती हैं कि भगवान उन्हें सात महलों का राज दे—कोई कहने की बात ही नहीं है।”

मेहतरानी तो चली गई पर योगेश को सिर से पैर तक आग लग गई। दुःख शाल के जाने का न था, स्वयं योगेश हजारों रुपये बातों में लुटा देता था किन्तु पुरुष की सत्ता प्रवृत्ति कहाँ जायेगी। नारी पुरुष का राज्य देखकर प्रसन्न होती है पर पुरुष के लिये नारी की सत्ता सहन कर पाना असम्भव है। भला स्त्री का राज्य, बहू रानी का राज्य... ठीक भइया राजा का राज... बहू रानी का राज्य तो यह मेहतरानी भी जानती है कि अब सचमुच ही राज बहू रानी का है। क्यों न हो ? जिन्होंने कमाया था वही जब सब कुछ बहू रानी को दे गये हैं तो योगेश है ही कौन ? सिर से पैर तक योगेश क्रोध से जल उठा। “कैसी विचित्र है यह नारी, मेरे ही घर में मेरे ही पिता के मन पर अधिकार करके महारानी बन बैठी यह स्त्री। इसे पाठ पढ़ाना ही होगा, इतना अपमान पुरुष का अपने ही घर में... इसे पाठ पढ़ाना ही होगा।” योगेश शेष करके भीतर स्नान करने गया, हजार नौकर होते हुये भी बहूरानी पति का निजी काम अपने हाथों ही किया करती थी। ज्यों ही गुसलखाने में समय से पानी, तौलिया आदि ठीक करके बहू रानी बाहर निकली तो योगेश दीख पड़ा।

“तो अब घर लुटाने पर लगी हो मालकिन ?” लहजे में मज़ाक तो ज़रा भी न था, था तो केवल कटु कर्ण कटु व्यंग। बहू रानी भी थी तो मनुष्य ही, जल उठी।

“क्यों क्या लुटा दिया है मैंने ?”

“जो चाहो लुटाओ, मालकिन तो बन ही बैठी हो, पर यह न भूल जाना कि यह सब-कुछ कमाया हुआ मेरे बाप का है, कुछ तुम्हारे बाप का नहीं।”

“सो तो ठीक है, पर मैंने लुटा क्या दिया, कुछ पता भी

लगे ।” बहूरानी आश्चर्य में डूबी हुई थी, कुछ समझ में आ ही नहीं रहा था, फिर भी नम्रता से बोली—“मैं आप से कुछ बाहर तो हूँ ही नहीं, आप बतायें तो सही कि मुझसे कहां गलती होगई है । मैं तो आपकी इच्छा के विरुद्ध कभी जाना चाहती ही नहीं हूँ ।”

“तब ही मेहतरानियों को ज़री पाड़ की शालें दे दी जाती हैं । मैं पूछता हूँ कि यह शाल क्या तुम्हारे बाप ने खरीदी थी । समझती हो कि मालिक तो मैं भी हूँ जो इच्छा हो करूँ, रोकने वाला ही कौन है ? न जाने बाबू जी ने क्या सोचा था ?” स्वर की कटुता की सीमा हो गई थी । बहूरानी का क्रोध भी सीमा पार कर चुका था, कुछ चिढ़कर उत्तर दिया—

“यदि आप की आज्ञा नहीं है तो नहीं दिया करूंगी । उसकी लड़की को निमांनया हो गया है । अभी डाक्टर के पास ले जाना है । गर्म कपड़ा कोई था नहीं और शाल मेरी भी नई थी, इसलिये वह पुरानी शाल दे दी । और यह तो सच है कि वह शाल थी भी मेरे मायके की ।” बहूरानी ने तो शायद सहज स्वभाव से ही कहा था किन्तु योगेश तो मानो लड़ने के लिये ही उधार खाये बैठा था । तड़क कर बोला—“तभी यह शान है न ?” स्वर की कटुता बढ़ रही थी । “न जाने अपने आप को समझती हो क्या है ? मिजाज ही नहीं लिबे जाते । रुपये को ही लेकर रहो, तुम्हें आदमियों की तो जरूरत ही नहीं है न ?” जुबान दांतों तले दबाकर चुपचाप बहूरानी वहां से टल गई । योगेश को तो आज बहूरानी को पूरा पूरा दण्ड देना था । वह खाना खाकर ही प्रतिदिन बाहर जाता था । उस दिन बिना खाये-पिये ही चला गया । बहूरानी.....उन्नीस वर्ष की प्रियम्बदा, सुभाषिनी, सेवा और प्रेम भरे हृदय वाली बहूरानी का भी उस दिन खाना पीना नहीं हुआ । प्रायः सारे दिन बहू रोती ही रही और फिर चौथे दिन

बहूरानी के भाई आ पहुँचे । उन्होंने बताया कि योगेश ने टेलीफोन किया था कि वह आकर अपनी बहिन को ले जायें । बहूरानी सुन कर चकरा तो गई । इन तीनों दिन योगेश घर आता तो था पर न तो बहूरानी से बातचीत ही होती थी और न उनकी सेवा ग्रहण ही । फिर भी बहूरानी ने समझ से काम लिया, मीठे से स्वर में घर सम्बन्धी कुशल प्रश्न किये । भाई को उसी दिन कार में लौट जाना था, फिर भी बहिन को तैयारी करते न देख कर जब भाई ने कहा—“क्या बात है ? योगेश दीख नहीं पड़ते ।” तो बहूरानी को कहना ही पड़ा—“वह तो दो सप्ताह के लिये पहाड़ चले गये हैं । मैं तो भला जानबूझ कर ही नहीं गई, घर अकेला कैसे छोड़ जाऊँ ?” भाई था एकदम विलायती रंग ढंग का आदमी, हंस कर कहने लगा—“तू भी पागल है भला यह भी कोई बात हुई, शायद इसी लिये योगेश मुझे टेलीफोन करता गया कि तू यहां अकेली न रहे ।” भाई के बहुत जोर डालने पर भी बहूरानी घर न गई, टाल ही दिया । फिर भी बहुत दिन तक योगेश को मना न पाई, यहां तक कि योगेश का घर रहते हुए भी घर आना बहुत कम हो गया । बहूरानी ने योगेश के चरणों पर सिर रख कर यह भी कहा “सुनो, मुझे तो इस धन का कुछ भी लोभ नहीं है, तुम जैसे कहो इसे तुम्हारे नाम लिख देती हूँ । पिता जी भी न जाने यह गलती क्यों कर गये । मुझ पर प्रसन्न तो रहो ।” योगेश यह सब कुछ सुन कर और भी चिढ़ उठा ।

“तुम्हारे दान की मुझे आवश्यकता नहीं है । अपने बाहुबल पर मुझे विश्वास है, इस से चौगना भी रुमा सकता हूँ ।”

उसके बाद कदुता तो अवश्य घट गई किन्तु मेल — हृदय का मेल फिर भी न हो सका । और दो मास के भीतर ही भीतर सुना गया कि योगेश ने दूसरा विवाह भी कर लिया है । इस बार विवाह

हुआ, योगेश मजुमदार का कुमारी सन्ध्या सान्थाल से । शादी के बाद पति पत्नी का निवास भी उसी कोठी में रखा गया, यद्यपि दूसरे कोठी, बंगले भी थे । बहुरानी ने सुनकर न तो कोई आपत्ति ही की और न कोई विपत्ति खड़ी करने का निश्चय ही । उन्नीस वर्षीय कुमारी अपने पति के दूसरे विवाह पर कोई भी जंग छेड़े बिना शान्ति से अपने कमरे में, अपने उसी कमरे में जिसमें कभी उसकी सुहागरात भी हुई थी, उसी कमरे में जिसमें कभी उसने भी आनन्द मनाया था, आज अकेली पत्थर की प्रतिमा की भांति बैठी रही । घर की पुरानी बूढ़ी दासी ने आकर कहा—“यह क्या कुछ ठीक हुआ, तुम भी क्यों नहीं अपने बाप भाई को बुलाकर इन्हें ठीक कर देतीं । न जाने कहां की एक चुड़ैल उठाये चले आते हैं ।” बहुरानी ने मौत की सी शान्ति से कहा—“उनका घर है दाई मां, जो इच्छा हो करें । मैं भला रोकने वाली होती ही कौन हूँ ?”

“क्यों ? हो क्यों नहीं ? भला बड़े बाबू कुछ सोच कर ही तो तुम्हें दे गये हैं सब कुछ । लड़के के लच्छन उनसे छिपे तो होंगे नहीं । और नहीं वैसे ही अपने पेट की आन्त को छोड़, पराई लड़की को सब कुछ दे जाते ।”

“दाई मां तुम नहीं जानती, बाबू जी ही तो यह सब कुछ कर गये । जाने दो भगवान की इच्छा ।”

“तो तुम सब कुछ देखने को यहां बैठी रहोगी ? पति की प्यारी का सारा अनाचार सहोगी, विटिया यहां बंठे बैठे ?” बहू रानी कुछ देर चुप ही रही, और फिर शान्ति से बोली—“वह लोग संध्या तक आयेंगे, भगवान भला करेंगे । दाई मां इस विषय में किसी से बातचीत न करो, जाओ, अपना काम देखो ।” बूढ़ी दाई कुछ निराश

सी होती हुई चली गई, कमरे से बाहर। बहुरानी फिर सिर झुकाए बैठी रही। थोड़ी देर पश्चात् मानो कुछ निश्चय सा करके उठी। श्वसुर की बड़ी तसवीर के सामने जाकर किसी अलक्ष्य आत्मा को लक्ष्य करके कहने लगी—“आप बड़े थे, समझदार थे, आपने गलती की है—यह तो क्यों कर कहूँ, किन्तु पिता जी यह रहा आप का घर द्वार, बहुत सहा और अब सहने की शक्ति नहीं रही। जो हो, आपसे जो सहज स्नेह पाया था, उसका पर्याप्त एवज दिये जा रही हूँ आपके पुत्र को।” बहू रानी की आँखें भरने लगीं। भली प्रकार पूरे साठ मिनट रोकर बहू रानी का मन कुछ हल्का होगया। उन्होंने उठकर सुन्दर लेटर-पेपर पर एक पत्र लिखना आरम्भ कर दिया।

“देव,

और कुछ इच्छा होने पर भी आज लिखूंगी नहीं। आप को और कष्ट भी नहीं दूंगी। जो कुछ पिता जी का स्नेह का दान था, वह आप ही का तो है। भगवान आपको सुखी रखे। किन्हीं सुख के दिनों की स्मृति स्वरूप सन्ध्या बहिन को मेरा आशीर्वाद है कि जो सुख मैं आपको निरन्तर की गई साधना द्वारा भी न दे सकी, वही सुख वह आपको सहज ही दे सकें.....।”

बहू रानी ने पत्र बिना हस्ताक्षर किये खुला ही पलंग पर छोड़ दिया और स्वयं भी उसी तरह लुढ़क रही। आश्चर्य तो यह था कि वह कुछ सुन्न सी थीं। जिस नारी ने किसी दिन भी स्वामी का सच्चा स्नेह प्राप्त किया ही नहीं, जिसे सदा सर्वदा स्वामी के अहंभाव से ही परिचय प्राप्त करना पड़ा है, स्वामी के प्रति उसका मोह हो भी तो कैसे? अर्द्ध जाग्रत, अर्द्ध, सुषुप्ति अवस्था में बहू रानी न जाने कितनी देर पड़ी रही। कमरा भीतर से बन्द था। बहू रानी का स्नान भोजन सुबह भी नहीं हुआ था। घर भर में मौत का सा सन्नाटा था, नौकर

चाकर बोलने की भी हिम्मत नहीं करते थे। यहां तक कि पालतू कुत्ते, हिरन आदि भी शान्त थे, केवल मात्र बूढ़ी दाई ही पागलों की तरह इधर से उधर चक्कर लगा रही थी। लगभग चार बजे के बाद बहू रानी ने पश्मीने की शाल ओढ़ ली, और द्वार खोलकर बाहर चली गई। सीढ़ियों पर कोई नहीं मिला। रसोई में न जाने खाना बना था या नहीं। जिस दिन से बहू रानी ने इस घर में पैर रखा था, उस दिन से आज पहिला ही दिन ऐसा हुआ था, जब कि वह रसोई में एक बार भी नहीं गई थी। आज स्नेह-मय पिता जी भी नहीं हैं, पति भी नहीं हैं और पुत्र भी नहीं। अचानक बहू रानी को एक वर्ष पूर्व के अपने एक मास तक जीवित रहने वाले पुत्र की याद आगई। किसके लिये वह भोजन का प्रबन्ध करने या देखने रसोई में जाती। दूर से रसोई का धुंआ भी नहीं दीख पड़ा। बहू रानी शान्ति से नीचे उतर आई।

सन्ध्या को ठीक सूर्यास्त के समय जब फूलों से सजी कार में योगेश मजुमदार और मिसेज सन्ध्या मजुमदार कोठी के पोर्टिको में मोटर खड़ी करके कोठी में प्रविष्ट हुये तो रोती हुई बूढ़ी दाई आकर योगेश के पैरों से लिपट गई। “हाय री मेरी सोने की बहू रानी, हाय मेरी बिटिया न जाने कहाँ चली गई.....” बूढ़ी के शब्दों का अन्त न था। करुण ध्वनि में अन्य नौकर भी कहीं कहीं साथ दे देते थे। योगेश उन्हें बुरी तरह झिड़क कर भगा देने की बात सोच ही रहा था कि सन्ध्या तबप उठी—“यह कैसी बदतमीजी है..... क्या कहती है यह बूढ़ी स्त्री ? योगेश तुम्हारी पहिली स्त्री वह गंवारिन है कहाँ ?” योगेश मजुमदार के पहले उत्तर दिया, एक असाधारण स्वरूपवान् युवक ने जिसकी फार नव विवाहिता पति पत्नी की कार के लगभग साथ ही साथ कोठी में आई थी—“खूब ! खूब योगेश, स्वांग

अच्छा किया । ठीक जैसा मातमी विवाह है, वैसी ही मातमी परछन का प्रबन्ध कर रखा है । इस विवाह के योग्य ही स्वागत हो रहा है ।” दाईं स्वर सुनते ही योगेश को छोड़ कर उस दूसरे युवक के पैरों को पकड़ कर रोने लगी । दूसरा युवक जान पड़ता था सब पर ही रोब जमा चुका था । यहां तक कि सन्ध्या भी उससे कुछ दब सी गई थी, और योगेश तो आरंभ से बिल्कुल स्तंभित सा ही होगया था ।

“क्या हुआ ? बूढ़ी मां, वहू कहां हैं ?”

“कौन जाने भइया, दोपहर तक तो थो अपने कमरे में ही, अब कहीं दीख ही नहीं पड़ती ।” बूढ़ी जोर जोर से रो रही थी । अन्य नौकरों की क्रन्दन ध्वनि मो कहीं कहीं फूट पड़ती थी । इसी समय सन्ध्या का व्यवहारिक ज्ञान कुछ चेत गया । उसने अपने जरी के सुन्दर बटुवे को बायें हाथ से दाहने में लेकर कहा—“तुम हो कौन जो इस तरह पराये घर में आकर अनाधिकार चेष्टा कर रहे हो ?” युवक तब तक बहुत अधिक उत्तेजित और परेशान हो चुका था । उसने तीखे स्वर में कहा—“सो किसी दिन फुर्सत में अपने स्वामी से पूछ रखना ।” और फिर तुरन्त ही बूढ़ी दाईं की ओर मुड़ कर बोला—“और तुम सब कहां मर गये थे, ठीक ही तो है मुझे तनिक सा विलम्ब हो गया । हाय री मेरी अभिमानी बहिन, खूब योगेश, खूब सजे हो छि..... ।” युवक और भी कुछ कहता पर इसी समय सन्ध्या बरबस योगेश का हाथ पकड़ कर उसे लगभग घसीटती हुई सी कोठी के भीतर ले गई । यह सारा कान्ड बाहर के बरान्डे में हो रहा था । योगेश लगभग अचेत सा था और दूसरा युवक उबलता हुआ सा ।

“चलो, एक बार बहू का कमरा देख लूं, फिर दाईं मां ' तुम

मेरे साथ चलो, अब तुम्हारा इस घर में काम ही क्या है।” दाई मां बहुरानी के मायके से दहेज में आई थी। कभी कभी लाड़ से बहुरानी को बहू भी कह दिया करती थी। पर गोद में खिलाई हुई मालिक की लड़की से दाई का मां का सा स्नेह था, तिस पर इस समय तो वह सन्ध्या को देखकर जल उठी थी। अपने घर के लड़के को देखकर उसे कुछ साहस तो बंधा था, फिर भी व्याकुल थी।

“भइया, तुमने जरा सी देर कर दी।”

“दाइ मां ! योगेश के एक मित्र ने मुझे कल टेलीफोन पर हाल बताया, उसी समय मैं कार पर चल दिया। बारह घन्टे में यहां पहुंच पाया हूं, फिर भी जान पड़ता है देर हो गई।”

उधर सन्ध्या अकेली ही योगेश को लेकर ड्राइंग रूम में बैठी रही।

“यह कौन है ?”

“बहुरानी के भाई।”

“ओह ! तब ही जल के मरे जा रहे हैं।”

स्वर लहरी शायद योगेश को भी अच्छी नहीं लगी, फिर भी वह सोच रहा था कि कितनी भिन्नता है मेरे इस विवाह की दुलहिन में और बहुरानी में तथा इस विवाह के स्वागत और पहिले विवाह की स्वागत सज्जा में। क्या इसका अन्त भी ऐसा ही होगा। आज मानो दुबारा से योगेश को जान पड़ा कि सचमुच ही वह बहुरानी से प्रेम करता था, पर बहुरानी के अन्तर्ध्यान होने पर एक शब्द कहना भी आज योगेश के लिये असम्भव था। सन्ध्या इस घर में नई है, उसका स्वागत करना ही होगा। यह सुशील है, सुन्दर है, और है आधुनिक युग की। योगेश कूठ मूठ ही अपने आप को सन्ध्या की महत्ता का

विश्वास दिलाने लगा, पर न जाने क्यों रह रह कर बहुरानी की विनम्र मूर्ति योगेश के सामने आ कर खड़ी होने लगी । बाहर घर भर में हलचल मची हुई थी । थोड़ी ही देर में कोठी से युवक और वृद्धी दाई मां को लेकर जाती हुई कार का शब्द सुनाई दिया । ठीक इसी समय योगेश ने शान्ति की श्वास ली । और सन्ध्या ने कुछ हंस कर कहा—

“योगेश तुम्हारे घर में क्या कुछ खाने पीने को भी न मिलेगा ?”

योगेश उठ कर स्वयं ही रसोई की ओर नौकरों की खोज में चला ।

“कमबख्त न जाने सारे कहाँ मर गये । इन्हें एक एक को निकाल दूंगा । सब उसी के इशारे पर चलते हैं, ठीक कर दूंगा ।” सन्ध्या ने मन ही मन कहा—“अच्छा हुआ, बला झाड़ू मारकर भगानी नहीं पड़ी, आप ही आप टल गई ।” वही प्रेम प्रतिमा सन्ध्या किसी दिन योगेश मजूमदार के लिये बला बन जायेगी,—यह उस समय न तो सन्ध्या को ही मालूम था और न योगेश को ही । उधर कुछेक दिनों से अभागे क्रान्तिकारी कहलाने वाले कुछेक नासमझ छोक़ों ने डी० एस० पी० योगेश का काम भी बढ़ा दिया है और इधर सन्ध्या ने योगेश की जीवन समस्या की उलझन भी । इस प्रश्न को लेकर ही योगेश और सन्ध्या दोनों ही दुःखी रहते हैं; योगेश अपने स्वर्ण अतीत की स्वर्णिम कल्पना रानी, बहू रानी को लेकर और सन्ध्या अपने बन्धन रहित खिले अतीत के अनेक पुजारियों की स्मृति में । इधर योगेश को प्राणभय भी अधिक हो गया था । भला क्रान्ति के नाम पर विचित्र इन युवकों का क्या ठिकाना, रोज़ रोज़ विचित्र खबरें आती हैं । कहीं स्टेशन जला डाला, कहीं सरकारी गोदाम फूंक दिया, कहीं जिला कचहरी पर अधिकार कर लिया, भला कहते हैं कि राज हम लोगों का होगा । प्राण लेते तो इन्हें कुछ देर ही नहीं लगती । खास तौर पर सरकारी आदमियों को तो गाजर मूली समझते हैं । ऐसे भयंकर समय

में घर की व्यवस्था भी विचित्र है। सन्ध्या बैट्ट के कागजात सम्भाल सकती है, अपने आभूषणों की देख-रेख, शृङ्गार प्रसाधनों की सूझ-बूझ उसे ठीक ठीक है किन्तु नौकरों पर उसका अधिकार न जाने क्यों जम ही नहीं पाता। इन्हीं कुछेक दिनों में दर्जनों नौकर बदल चुकी है पर कोई पसन्द ही नहीं आता। दाईं माँ चली हो गई हैं। एक ले देके रह गया है 'बदलू' बड़े बाबू जी के जमाने का नौकर। बिचारा अब जाये भी तो कहाँ? कभी-कभी बड़ी मां जी और बहू जी की याद करके आँखें गीली कर लेता है। बाबू जी भी तो न जाने उसे इस लोक में छोड़कर क्यों चले गये। जोग भइया तो देखते सुनते हैं नहीं। बूढ़े वकील साहब भी जो कि योगेश के एक तरह से संरक्षक थे, सन्ध्या को पसन्द नहीं थे। यूँ सन्ध्या लड़की तो पुरी नहीं थी, मन भी उसका कोमल ही था पर जिन भावनाओं को लेकर उसने इस घर में प्रवेश किया था, जो स्वागत उसका हुआ था, जो दुर्बलता योगेश ने दिखाई थी, इन सबने मिलकर सन्ध्या के मन को ठोक पीटकर और ही ढङ्ग का बना डाला था। यूँ तो उसका लालन-पालन भी और ढङ्ग से ही हुआ था। सचमुच ही योगेश की इच्छा उस दिन सन्ध्या को क्लब न जाने देकर एक मीठी सी सुलह कर लेने की थी। इच्छा सम्भवतः सन्ध्या की भी रही हो किन्तु अभिमाननी हार मानने वाली थी नहीं और फिर बहीद से वायदा भी तो किया हुआ था।

यावज्जीवन जिस ढंग से पलने और पालने का इरादा शायद माता पिता ने सन्ध्या के लिये कर दिया था, उस ढंग से तनिक भी इधर-उधर सन्ध्या हिल ही कैसे सकती थी। इधर योगेश की जिद्द थी कि उसे जाने न दे। दोनों ही जिद्द के पूरे थे। पर सन्ध्या कुछ बहुरानी तो थी नहीं, उसने दबना कभी सीखा ही न था, और फिर आज कल तो वह यूँ भी योगेश पर प्रसन्न नहीं थी। फिर थी भी तो नारी

अधिकार सभा की प्रधान मन्त्राणी । अभी दो ही वर्ष हुये योरोप की नारी समाज का स्वतन्त्र वातावरण देखकर वह भारत इस निश्चय के साथ लौटी थी कि भारत की नारी को भी ऐसी ही स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ायेगी, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि कब और किस समय मनुष्य दूसरे के मन को स्वयं झुककर झुका सकता है, इसकी समझ तो चाहे सन्ध्या को हो, पर उसका क्रियात्मक अनुभव न तो उसे था ही, और न वह इस पचड़े में पड़ना ही चाहती थी । योगेश जल उठा । सन्ध्या भीतर शृंगार कर रही थी, और बाहर योगेश उबल रहा था मन ही मन । कोई एक घन्टे बाद सन्ध्या वास्तव में सुनहरी सन्ध्या बनकर कमरे से निकली । सुन्दर बड़िया सिल्क की श्वेत रंग की साड़ी के नीचे सफ़ेद ज़री के काम का क्रीम रंग का ब्लाउज़ पहने थी । कोट भी सफ़ेद पश्मीने का था, कोट पर हल्के पीले और भूरे रंग की कढ़ाई की गई थी, जूते भी सफ़ेद ही थे । सन्ध्या टैनिश खेलने जा रही थी ना । कोट तो यूँ ही शौक्रिया पहिन लिया था, गुलाबी जाड़ा भी तो पड़ने लगा था । सफ़ेद ज़री का बटुवा शायद फ्रांस का बना हुआ हाथ में था । सचमुच ही सन्ध्या अपूर्व सुन्दरी लग रही थी । उस सन्ध्या की लालिमा के बीच श्वेत वस्त्रों में क्षणिक के लिये योगेश की आंखें चकाचौंध हो गई । सन्ध्या की इच्छा शायद योगेश को नाराज करने की न थी, वह नम्र से स्वर में बोली—

“योगेश, बायदा कर चुकी हूँ वहीद से । न हो आज तुम भी चलो क्लब, कल नहीं जाऊंगी, दोनों कहीं पिकनिक आदि का प्रबन्ध कर लेंगे चल कर, है ना ?”

“आज भी न जाओ, मैं वहीद को टेलीफोन कर देता हूँ । सन्ध्या मुझे दो घण्टे बाद ही कहीं तफतीश के लिये जाना है । इस समय मेरा मन बड़ा ही भारी होरहा है, सन्ध्यारानी ।” योगेश ने

बड़ा ही स्वर मिश्रित से भरकर कहा । सन्ध्या पिघल गई, पर निश्चय नहीं छोड़ सकी ।

“क्या करूं योग, लाचार हूं, किसी तरह भी आज का मैच कैंसिल नहीं किया जा सकता । केवल आज भर के लिये क्षमा करना । चेरियो.....” और सन्ध्या बाहर निकल गई । थोड़ी देर बाद योगेश ने कार के अहाते से बाहर जाने का शब्द सुना । योगेश के लिये यह बड़ा ही कठिन आघात था । कितने ही दिनों की तिरस्कृता मन से भी, कल्पना से भी भुलाई गई दुःखिनी नारी जिसने कि किसी दिन योगेश के अत्याचार से तंग आकर आत्म-हत्या कर ली थी, आज योगेश को सर्वाधिक प्रिय जान पड़ी । योगेश को जान पड़ा कि उसे अपने पाप, अपने अपराध का ही दण्ड मिल रहा है । मन ही मन योगेश कह उठा—“इन दोनों में से कौन सी.....कौन सी.....” मन में भी इससे अधिक योगेश और कुछ न कह सका । टेलीफोन की घण्टी ने योगेश को कर्तव्य की याद दिला दी । योगेश का सहकारी कह रहा था कि नगर में संध्या को एक जुलूस निकलने वाला है, जुलूस के पश्चात् ही कम्पनी बाग में एक सभा भी होने वाली है जिसमें बहुत से भाषण दिये जायेंगे, ऐसी ही आयोजना की गई है । आजकल कानून की आज्ञा से जुलूस बन्द है, सभा की ही नहीं जा सकती है । गोली चलवाना योगेश को पड़ेगा ही, और पुलिस की ठुकड़ी को लेजाकर किसी न किसी प्रकार उन निहत्थे बेचारे गरीब हिन्दुस्तानियों को पीस डालना ही होगा । योगेश का मन आज बहुत ही भारी हो रहा था । सन्ध्या ने तो आज उस जङ्गम पर नमक ही छिड़क दिया था । योगेश का चिढ़ा हुआ मन आज विश्व भर को भस्म कर डालने के लिये उत्सुक हो उठा था । सहकारी को आदेश देकर उठ खड़ा हुआ योगेश । “सच ही विश्वभर में मेरा कोई नहीं फिर

मैं झूठ-मूठ ही क्यों विश्वभर की चिरौरी करता फिरूँ । चलो कुछ शिकार ही हाथ लगेगा..... मानव शिकार..... मानव शिकार..... वहीद जैसे ही युवक..... सुन्दर छोकरे, ओह.....” योगेश के मन का पशु जाग उठा । योगेश तैयार होने के लिये भीतर चला गया । सन्ध्या उस समय वहीद के साथ पहला सेट खेल रही थी ।

गंगाहर

:: ६ ::

“खूब, खूब..... जान पड़ता है शर्म भी धोकर पी ली है ।” कहीं से एरु बड़ी कटु किन्तु बारीक सी आवाज आई । पुलिस इन्स्पेक्टर साहब ने कठोर उंची मूँकों से ढका हुआ रोबीला चेहरा उठाकर भीड़ की ओर एक कठोर दृष्टि डाली । “कौन है यह..... इसका सर्वनाश न कर डाला तो.....” आदि आदि एक सांस में सैकड़ों ही गालियों के साथ कह डाला रोबीले साहब ने । उधर मारपीट जारी थी । अभागे गांव में रहती थी एक सीधी-सादी सी किसान स्त्री और उसकी गरीब लड़की । उन्हीं दो मां-बेटियों पर आज बड़ी भारी शक्तिशालिनी सरकार की कोपदृष्टि थी । सुना जाता है..... कि भयङ्कर जेल से तीन कैदी भाग गये हैं और उन्हें भगाने में हाथ रहा है किसी एक अपने आपको क्रान्तिकारी कहने वाले छोकरे का । बनारस

यूनीवर्सिटी में पढ़ने वाले इस युवक का नाम कहा जाता है, गिरीश है, और उसी युवक की दुःखिनी माँ और अनाथ बहिन आज उसका पता न बता पाने पर कठोर सरकारी दण्ड की अधिकारिणी हैं। भरे पुरे गांव भर में सरकार की कोपदृष्टि से बचा सकने वाला उन्हें है ही कौन ? इस समय या तो उन्हें उस अभागे मूलक का पता बताना होगा अथवा कठोर दण्ड भोगना होगा। डकराती हुई माँ और पेड़ के पत्ते की सी कांपती हुई बालिका दोनों ही भले ही अनभिज्ञ हों, सर्वथा अनजान हों, किन्तु उस उदण्ड लड़के का पता बताये बिना, पुलिस को भला क्यों विश्वास होगा। गांवभर के सामने पेड़ के नीचे ही उन दोनों की लांछना करनी होगी। तब ही तो गिरीश का पता मिलेगा..... और यह सब लांछना होनी भी किसी भारतवासी के हाथों ही चाहिए, नहीं तो विधि की विडम्बना का पूरा-पूरा रूप दीख भी किस प्रकार पड़ेगा। सारी रात दोनों मां-बेटियों को बाहर ओस में नंगी धरती पर बिना आँदने-बिछौने के पेड़ों के तने से बांध कर रखवा गया था और सुबह दोनों पर ही आठ-आठ चोट की मार पड़ रही थी। विचारी सम्भवतः पता होने पर बता भी देतीं, पर पता था ही उन्हें कहां ? जिन व्यक्तियों ने समूचे भारतवर्ष को अपनी माँ अङ्गीकार कर लिया है, जिनका समस्त हृदय देश-प्रेम में ही डूब गया है, उनकी दृष्टि में माँ और बहिन कहकर किसी शरीर की व्याख्या रह जाती ही नहीं है। इस सत्य को शायद सब मनुष्य तो सहज ही समझ पाते नहीं, भला वह साधारण सा व्यक्ति इस सत्य को कैसे समझ पाता। वृद्धा मार खा-खाकर अचेत सी हो रही थी और बालिका बिचारी तो बेंत की चोट खाकर केवलमात्र चीख उठती थी। कभी-कभी 'हाय भइय्या' और कभी केवलमात्र आँखें फाड़ कर चारों ओर देखने लगती थी। दर्शकों की कमी तो थी नहीं; कुछ लोग आँखें गीली किए हुये थे, कुछ

क्रोध से ओठ काट रहे थे, कुछ ज़ोर-ज़ोर से रो भी पड़ते थे, फिर भी किसी में भी न तो विरोध की शक्ति ही जान पड़ती थी और न इच्छा ही। आतंक से प्रायः सब दबे हुये से थे। ऐसे समय में भीड़ से अचानक ही यह आवाज़ आती हुई कुछ असम्भव सी ही जान पड़ी। इन्स्पेक्टर क्रोध से लाल पीला हो गया था, गालियों की भी बौछार हुई और गांव भर में दिन दहाड़े आग लगा देने की धमकी भी। फिर भी उस स्वर के मालिक का पता न लगता था और न लगा अत्याचारी को, इससे क्रोध में धी पड़ता जान पड़ा। उसने आज्ञा दी यमदूतों जैसे कठोर पुरुषों को मार की शक्ति बढ़ा देने की, साथ ही बालिका को विवस्त्र कर देने की भी। लड़की डरकर सहम सी गई। आज्ञा देने वाले की ओर उसने याचना, अनुलनीय दर्द भरी याचना की दृष्टि से ताका। पर कहां ? वह तो अपनी ड्यूटी बजा रहा था ना। उसे तो नामवरी पानी थी और यही तो था उचित मौक़ा उसके लिये। दीनता से गांव का चौधरी कल दोपहर से गिड़-गिड़ा रहा था। दया की भीख मांगते हुये गांव भर में किसी के घर भी कल शाम से चूल्हा नहीं जला था। सारा गांव ही माँ-बेटी पर प्राण देता था। गिरीश तो था ही उनके दुःख-दर्द का साथी.....फिर भी भला तोप, बन्दूकों के सामने इन दरिद्र प्राणियों की क्या बिसात... आज्ञा देने वाले पर मद चढ़ता ही जा रहा था, वह भी बके जा रहा था—“देखता हूं इन्हें कौन बचाता है.....मुझे, मुझे धमकी, तुम्हारा एक एक की शर्म छुड़ा न दो तो कोई बात नहीं। बहुत अकड़ते ही जा रहे हैं.....” आदि आदि के साथ गालियों का तो कहीं अन्त ही न था। रात तक जो क्रूरलीला माँ-बेटी के नाशवान शरीरों पर होती रही वह वर्णनातीत है। रात भर के लिये जब कि अन्य सबही ने घर-बार की शरण ली तो वह बिचारी दो

स्त्रियां नंगे बदन खून से लथपथ देह लिये ओस में शीत से कांपने के लिये छोड़ दी गईं। उन्हें तो अधिकाधिक कष्ट देकर गिरीश का पता प्राप्त करना था अथवा गिरीश के कर्मों का बदला लेना था इन असहाय नारियों से। जो भी हो किसी तरह भी उन्हें कहीं छत के नीचे शरण न मिलनी थी और न मिली दया। केवल यही हुआ कि इस बार पेड़ के तने के स्थान पर उन्हें अवमरा करके चारपाई के पाये के साथ बांध दिया गया। रात के सन्नाटे की हवा में भी किसी ने उन पर वस्त्र ढालने की आवश्यकता ही नहीं समझी अथवा किसी को ध्यान ही नहीं आया—यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता है। धीरे-धीरे अन्धकार बढ़ता ही गया, साथ साथ सन्नाटा भी और एकाकीपन भी।

इसी समय धीरे धीरे एक कुबड़ा सा आदमी कांपता थरथराता सा उन लोगों को दीख पड़ा। बिचारी कांपती स्त्रियों की कल्पना में भी ऐसा दृश्य कभी नहीं आया था। आस-पास भी कोई जीवित प्राणी नहीं था फिर भी वह व्यक्ति अत्यन्त सावधानी से आगे बढ़ रहा था। उसने धीरे-से माँ के कन्धे पर हाथ रखवा, शायद स्त्री चीख पड़ती पर तुरन्त ही आगन्तुक ने उसके मुख पर हाथ रखकर उसे चुप रहने का संकेत किया। बालिका तो अचेत प्रायः ही थी। धीरे से उस व्यक्ति ने नारी के कान में कुछ कहकर उसे बंधन-मुक्त किया। यह सब कुछ इतने धीरे हो रहा था कि किसी को कानोंकान खबर हो सकती ही नहीं थी, फिर आसपास कोई था भी नहीं, सभी सुख-निद्रा में निमग्न थे। बन्धन-मुक्त होकर माँ ने पास पड़े हुये वस्त्र ज्यों-ज्यों धारण किये। इसी बीच में उस व्यक्ति ने बालिका को कुछ सुँघाकर सचेत किया। अनेक यत्न करने पर भी बालिका उठकर खड़ी न हो सकी। सब कुछ निशब्द ही तो करना था अतः उस व्यक्ति ने बालिका को पुनः कुछ सुँघाकर अचेत कर दिया। बालिका को स्वतन्त्र करके उस व्यक्ति ने

कन्धे पर ढाल लिया और नारी को साथ लेकर चल पड़ा, अत्यन्त सावधानी से अरहर के खेतों की ओर। कुछ ही देर में खेतों के बीच दोनों व्यक्ति अदृश हो गये।

उसी तरह लगभग चार मील निकल जाने पर आगन्तुक ने मां से कहा—“देखो अब सबेरा होना ही चाहता है, हम लोग अभी खतरे से खाली नहीं हैं, हमें सूर्योदय से पूर्व यहां से कम से कम चालीस मील दूर निकल जाना है। स्टेशन पास ही है, हमें दो-तीन स्टेशन गाड़ी पर जाना पड़ेगा, आगे हमारी कार खड़ी है। इस समय इससे अधिक और कुछ जानने का यत्न न करना।”

मां ने दूटे हुये बदन और सूखे मुख को ज्यों त्यों आगे घसीटते हुये अत्यन्त दीनता से कहा—“तुम हो कौन देवता भइया ?”

“मेरा नाम गंगाहर है। इस समय बस, इतना ही काफी है।” जान पड़ता था गंगाहर भी थककर चूर होगया था। जाड़े की रात में भी इसके माथे से पसीना चू रहा था। कन्धों पर भार भी कुछ कम न था, फिर भी गंगाहर की इच्छा शायद विश्राम करने की न थी। लगभग आधा मील और चलने पर स्टेशन दीख पड़ने लगा। कम्बल समेत कन्धे के भार को लिये दिये गंगाहर एक पेड़ के नीचे घने अन्धेरे में पहुँचा। वहाँ एक कुली खड़ा था। गंगाहर ने आहिस्ते से पूछा—“टिकट तैयार हैं ?”

“हां, तीन चाहिये ना ?”

“हां”

इसके बाद गंगाहर ने कन्धों के बोझ और मां को उस व्यक्ति के हवाले करके कहा—“गाड़ी आने में पांच मिनट की देर है, गाड़ी यहां दस मिनट ठहरेगी, तुम इन्हें लेकर वहां पहुँचना, मैं जाता हूँ।” “फिर मां की ओर मुड़कर कहा—“निश्चिन्त भाव से यह जो कहें, सो

करो, भय की आवश्यकता नहीं है ।” तुरन्त ही गंगाहर लम्बे कदमों से चल पड़ा । इस समय तक कम्बल उसके शरीर पर से उतर चुका था । वेटिंग रूम में जब गंगाहर घुसा तो लालटेन के प्रकाश में उसका सुन्दर छरहरा बढ़िया सूट से सजा हुआ शरीर और तुर्की टोपी एक देखने ही वाली वस्तु थी । चुपचाप गंगाहर अपने विलायती चमड़े के सूटकेस और बढ़िया बिस्तर बन्द में बंधे बिस्तर के पास जा बैठा । अभी तक कोई दूसरा व्यक्ति वेटिंग रूम में था ही नहीं । गंगाहर ने शान्ति की सांस ली । बदना उठाकर गुसलखाने की ओर जाने का विचार कर ही रहा था कि गाड़ी प्लेटफार्म पर पहुँच गई । गंगाहर सावधानी से उठ खड़ा हुआ । तभी एक कुली एक गठरी सी हाथ में एक बुरके वाली स्त्री को साथ लिये वहाँ पहुँच गया ।

“साहब चलें, गाड़ी आगई ।”

“चलो चलो, जल्दी करो—देखो रहिमन तुम रास्ते में गठरी हिफाजत से रखना ।”

“कुली ने सावधानी से सूटकेस और बिस्तर उठाया । प्लेटफार्म पर सामने ही फर्स्ट क्लास का कम्पार्टमेंट था, सामान लगा दिया गया । साहब की सीट शायद रेज़र्वेड थी, साहब ऊपर चढ़कर अपनी सीट पर बैठ गये । कुली ने उस स्त्री को गठरी सहित नौकरों के कम्पार्टमेंट में बिठा दिया । सौभाग्य से दर्जा बिल्कुल खाली था, केवल साहब के डब्बे में दो यात्री अपनी अपनी सीटों पर सो रहे थे, आनन्द निद्रा मग्न । इस बीच दस मिनट बीत गये, गाड़ी सीटी देकर चल दी, गन्तव्य स्थान की ओर । गाड़ी के चलते ही दोनों सोने वाले व्यक्ति बढ़िया कम्बल फेंककर उठ खड़े हुये । गंगाहर ने एक छोटे से लड़के की ओर देखकर पूछा—“काम हुआ ।” लड़के ने पागलों की

सी उतावली से पूछा—“आप कहें ।” गंगाहर ने सरलता से एक मीठी स्फुटकी ~~कहा~~ कहा—“पागल, मैं जाऊं और काम न हो ? वह लोग साथ वाले कम्पार्टमेंट में हैं ।”

“मैं वहां जाऊं ?”

“पागल न बनो, इतनी जल्दी अच्छी नहीं ।”

“क्या उनकी बहुत दुरावस्था हुई ?”

“सो फिर कभी सुन लेना । अब तो वह लोग सुरक्षित हैं ।”

इस बार मौलवी साहब ने लम्बी सफेद दाढ़ी हिलाते हुये कहा—“अब ही क्या पता है ?” इस बार गंगाहर मौलवी की ओर बढ़कर बोला—“तुम्हारे काम का क्या हुआ अनिल ?”

“मैं मौलवी फ़जलुलहक हूं भाभी ।”

“और मैं भी गंगाहर हूं ।” अत्यन्त मीठी हंसी से थकी हुई गंगाहर वेशघारिणी नारी ने कहा ।

इसी समय उस बालक गिरीश ने चुपचाप भाभी के जूतों सहित चरण छू लिये ।

“दूर पगले, चरण अपनी मां के छूना, पर अब हमें आगे का कार्य कुछ निश्चित कर लेना चाहिये ।”

“मेरी भाभी मां से भी बढ़कर है, गंगाहर ।” न जाने क्यों उस कठोर परिश्रमी नारी अथवा सरदार अथवा गंगाहर की दोनों सुन्दर आंखें आंसुओं से भर उठीं ।

कठोरता

:: १० ::

“जीवन के जिन सपनों को लेकर आजतक अपने आप को भुलाती रही हूँ, उन्हीं को तुम कहते हो त्याग दो, यह कैसे हो सकता है। मेरे पास रूप-यौवन है और है जीवन शक्ति ! मैं जीना चाहती हूँ और जिऊंगी। एक दिन मैं मरना चाहती थी पर उस दिन मर सकी नहीं, आज जीना चाहती हूँ, देखना केवल यह है कि जी भी सकती हूँ अथवा नहीं।” वह कांपती हुई सी कौच पर बैठ गई। सामने बैठा युवक हंसने का प्रयत्न कर रहा था। पर सचमुच ही उसकी हंसी को देखकर रोना आता था। सच ही उस हंसी में करुण-रुदन से कुछ अधिक शक्ति, अधिक रौनक, अधिक जीवन तो था नहीं।”

“पर यही क्या जीवन का अर्थ है, यही है क्या जीवित रहने की रीति-नीति, इसी को क्या तुम कहती हो जीवन ?”

“हां, इसी को जीवन कहती हूँ। मैंने तो जीवन के सारे ही अर्थ समझने चाहे थे। कुछ समझने का प्रयत्न करते समय मैं स्वयं लुट गई, कुछ समझ रही हूँ और कुछ फिर कभी समझूंगी किन्तु किसी दिन और किसी समय भी तुम्हारे उपदेश की आवश्यकता मुझे न पड़ेगी, यह निश्चय ही जानना।”

“देखो, अधिक क्रोध करके तुम स्वयं अपने आपको जलाती

हो। एक तो यूँ ही वासना से जली जा रही हो तिस पर यह चिढ़। इससे तुम्हें क्या मिलेगा ?”

“क्या मिलेगा सो नहीं जानती, जानना चाहती भी नहीं हूँ, आज तक जान पाई भी नहीं थी। आज अचानक ही तुम्हें देखकर पुरानी स्मृतियाँ जागृत हो उठीं। वह सो जायें यह भी चाहती हूँ किन्तु उन्हें सुलाने का क्या कोई उपाय है तुम्हारे पास ?”

“उपाय तुम्हें पहिले ही दिया था किन्तु तुमने पाकर भी पाना चाहा था ?”

“जब हाथ बढ़ाकर पाना चाहा था तब वहाँ मिला ही क्या था, जानते हो ? पर जाने दो बहुत दिनों बाद मिले हो, शायद जीवन में फिर किसी दिन मिल सकोगे भी नहीं, शायद मिलना चाहोगे भी नहीं, तब आज के कुछेक क्षण सुख से क्यों न बिताए जायें।”

“सुख और दुःख की परिभाषा ही शायद तुम नहीं समझ सकती हो।”

“समझा न दोगे क्या ?”

“नहीं, आज इतना समय नहीं है।”

“और फिर कभी भी शायद समय नहीं होगा।” इस बार उसकी सुन्दर आँखें जल उठी थीं। उसने अपने दाहिने हाथ में ली हुई धूप की ऐनक एक बार बड़ी शान से घुमाई फिर उसे सोफे पर फेंकते हुये उसने कहा—“चाय तो पियोगे ना ?”

“मेरा चाय-प्रेम तुमसे छुपा तो है नहीं।”

“तब ही।”

“शायद ब्रह्मभोज के बाद दक्षिणा भी देनी पड़े।”

“अनिल सब-कुछ ही तो आहुति स्वरूप ले चुका है। अब

यह नई दक्षिणा की मांग कैसी ?”

“सन्ध्या तो सूर्यास्त होने पर अनिल को आहुति देती ही रहती है, भला यह प्रश्न कैसा ?”

इस बार दोनों खिलखिला कर हंस पड़े। सन्ध्या का मन शायद इस बार कुछ हल्का हो गया। उसने हंसकर कहा—“अच्छा, तुम्हारे लिये चाय का आर्डर तो कर दूँ। योगेश तो आज घर पर चाय पियेंगे नहीं, इच्छा तो मेरी भी न थी, नौकरों को मना करके ही गई थी, अब ज़रा एक बार कहना तो पड़ेगा ही।”

“समा करना, सन्ध्या मैं तो भूल ही गया था कि तुम पांच वर्ष पूर्व की मुस्कराती सन्ध्या नहीं हो, आज पांच वर्ष पश्चात् की परिपक्व गृहिणी हो।”

“यह व्यंग क्या तुम्हें शोभा देता है ? खैर मैं अभी आई।” कहकर सन्ध्या बाहर चली गई। अनिल सन्ध्या के सुन्दर, सुडौल, लम्बे, पतले शरीर की ओर देखता ही रह गया। न जाने क्यों अनिल का मन भारी हो गया। यह सन्ध्या सी सुन्दर, कोमल, करुण, प्रभामयी सन्ध्या किसी दिन उसकी ही थी। कितने सुन्दर, कितने भरे भरे, कितने उज्ज्वल थे वह दिन, जब कि दोनों साथ-साथ खेलते, साथ-साथ पढ़ते और साथ-साथ रहते थे। कैमब्रिज यूनीवर्सिटी के दो उज्ज्वल सितारे थे। दोनों ही यौवन, प्रणय में चूर थे। और फिर एक दिन अनिल को सुन पड़ा मां का करुण क्रन्दन, देश की आतुर पुकार, तड़क उठा अनिल का हृदय। सन्ध्या तो अनिल के साथ एक प्राण दो देह वाली बात थी। अनिल ने सन्ध्या को अपने मार्ग पर खींच लेना चाहा, किन्तु सन्ध्या.....सन्ध्या न हिल सकी। सन्ध्या के जीवन की दृढ़ता, मन की शक्ति शायद अनुलनीय थी। वह सीधी

खड़ी हो सकती थी, टूट भी सकती थी किन्तु किसी भी अवस्था में झुकना उसने सीखा ही न था। सन्ध्या चाहती थी भरा-भरा, खिला-खिला, नाचता सा जीवन.....। उधर अनिल चाहता था जीवन के सपनों में एकदम परिवर्तन.....अनिल के लिये उसमें आनन्द था क्योंकि वह उसकी इच्छा थी। उसकी नींव किसी की इच्छा पर अपनी इच्छा का बलिदान करना न होकर स्वयं अपनी इच्छा पर जगत, नवीन जगत का निर्माण था। सन्ध्या को शायद कुछ भ्रम भी हुआ था। उसने अपने स्नेह का मूल्य कुछ अधिक आंका था। उसके विचार में अनिल अपने नव-जीवन स्वप्नों को भले ही छोड़ दे पर सन्ध्या को नहीं छोड़ सकेगा—इसी विश्वास के भरोसे सन्ध्या निश्चिन्त बैठी रही और अनिल सन्ध्या की ओर से आश्वासन न पाकर वरन् विरोध ही पाता रहकर एक दिन एकदम अन्तर्ध्यान हो गया। सन्ध्या को अब भी विश्वास था कि अनिल विश्व के किसी कोने में भी सन्ध्या के बिना न रह सकेगा। उधर अनिल उस मिट्टी का बना हुआ था जिस मिट्टी में निरन्तर नवीनता की गन्ध के प्रति उपजने वाला प्रेम रमा रहता है। जीवन का नवपट परिवर्तन अनिल के अचेतन जगत में सन्ध्या को बहुत पीछे छोड़ गया। अनिल के नवीन कार्यक्रम में सन्ध्या की स्मृति एक अतीत की भूजी हुई कहानी-मात्र रह गई। सन्ध्या की प्रतीक्षा उद्भूत रूप धारण करती गई और एक दिन अचानक ही सन्ध्या का मन यह निर्णय कर बैठा कि पुरुष ढोंगी होते हैं, वह प्रेम करना जानते ही नहीं हैं, प्रेम कर सकते ही नहीं हैं। अभिमानिनी सन्ध्या अपने मन का ठीक-ठीक विश्लेषण भी न कर पाई थी कि उसने पुरुष-मात्र से प्रतिकार लेने की अचेतन मन की इच्छा को कार्यरूप देना आरम्भ कर दिया। सन्ध्या को प्रकृति ने सब-कुछ दिया था। रूपसी, गुणवती, सुकोमल नारी—रमणी सन्ध्या कब किस क्षण

में कठोर पुरुष द्वेषी सन्ध्या बन गई, सो सन्ध्या स्वयं भी तो न जान सकी। उसने चेतन मन से ढेल-ढाल कर अनिल को दूर तो कर दिया पर जगत् की गति वैसी ही चलती रही। फिर एक दिन बड़े आडम्बर विहीन ढंग से सन्ध्या का विवाह भी हो गया। प्रायः सभी तो कहते थे और आज भी कहते हैं कि सन्ध्या ने स्वयं प्रेम की बिना पर विवाह कर लिया किन्तु शायद विश्व में कोई भी यह जान पाया नहीं, स्वयं सन्ध्या भी नहीं कि इस विवाह की नींव थी प्रतिकार। सन्ध्या अपने 'अहं' को किसी में भी, यहां तक कि अनिल में भी, लीन न कर पाके स्वयं 'अहं रूप' बन गई। यही कारण था कि योगेश से सन्ध्या की एक दिन भी न बनी। उस दिन सन्ध्या रात्रि से पूर्व घर न लौटने का कार्यक्रम निश्चित करके जब बाहर निकली तो न जाने क्यों बहुत उदास सी थी, मन मानो दैठता ही जा रहा था। उसकी गहरी कासनी रंग की बढ़िया जार्जेट की जूरी के तारों के चौड़े काम की साड़ी उसके गोरे, सुन्दर गुलाबी गालों की लालिमा को तो बढ़ा रही थी, किन्तु बड़ी बड़ी डोरेदार गुलाबी आंखों की गहरी वेदना मिश्रित उदासी को कम न कर सकी।

सीधी देखती हुई सन्ध्या की आंखें सड़क के किनारे जाकर कुछ अटक सी गईं। सन्ध्या उतर कर सड़क के किनारे पहुँच गई। एक युवक बहुत ही बढ़िया सूट पहिने सड़क के किनारे छाते के किनारे पर टाइयां लटकाये हुए पेरीवाले से एक नीले रंग की टाई का मोल भाव कर रहा था। सन्ध्या सगो क कुछ दूर ही खड़ी रहकर युवक की ओर देखती रही और फिर एकाएक युवक के पास आकर उसने युवक के कंधे पर हाथ रख दिया। युवक शायद अत्यन्त सावधान था। उसने जरा भी न चौंक कर अथवा कोई ऐसी क्रिया करके शान्ति से घूमकर देखा। संयम करते करते भी युवक की आंखें सन्ध्या की आंखों से

मिलकर डूब सी गई, किसी अज्ञात भय से अथवा हर्ष से कौन कह सकता है ? युवक चुप ही रहा, सन्ध्या ने धीरे से कहा—“मुझे भूल ही गये क्या अनिल ?”

“आप किसे खोजती हैं देवी !”

“सन्ध्या की आंखें धोखा नहीं खा सकती अनिल !”

शायद इस समय तक युवक समझ गया था कि युवती से सड़क के किनारे खड़े होकर अधिक देर तक बातचीत करना सुरक्षित नहीं है । अतः उसने बहुत ही धीमे स्वर में कहा—“भूला तो नहीं हूँ सन्ध्या किन्तु याद दिलाना भी नहीं चाहता, चलो इस तरफ चलें ।”

सन्ध्या इस बार बिना कुछ कहे सुने अपनी कार तक लौट आई, अनिल पीछे पीछे था ।

“बहुत सी बातें करनी हैं अनिल, घर ही चलो ।”

“चलो, कहकर अनिल अगली सीट पर ही बैठ गया, सन्ध्या स्वयं गाड़ी चलाने लगी । अनिल आवश्यकता से अधिक गम्भीर था ।”

“अनिल तुम बहुत बदल गये ।”

“और तुम क्या वह की वही हो सन्ध्या ।”

“सो बात नहीं कह रही, शायद मैं भी बदल गई हूँ, पर तुम इतने गम्भीर किस तपस्या के बाद बन गये हो, सो ही जान नहीं पाती हूँ ।”

“न जान पाओ सो ही ठीक ।” कहकर अनिल कुछ ऐसा चुप हो गया कि सन्ध्या के लाख प्रयत्न करने पर भी घर तक न बोला ।

सन्ध्या चाय की आज्ञा देकर ड्राईंग-रूम में लौट आई । “विवाह किया ?” सन्ध्या ने कठोरता पूर्वक सीधे भदे से डङ्ग से प्रश्न किया ।

“किया तो था एक दिन, पर मेरी पत्नी मेरे मार्ग पर चल न सकी।”

“इसीलिये तुमने उसे त्याग दिया।”

“नहीं, उसने ही मुझे त्याग दिया। पर जाने दो, वह बात आज करके क्या लेना देना है।” एक झटके के साथ कहा अनिल ने। और फिर मानो संभलने का प्रयत्न करने के लिये कहने लगा, लगातार एक सांस में—

“सन्ध्या ? तुम्हारा यह कतरा तो बड़ा ही सुन्दर है। तुम्हें चित्र-कला आती थी, पर यह तो मैं किसी दिन भी नहीं जानता था कि तुम इतने सुन्दर चित्र बना लेती हो।” सन्ध्या विषय बदलने के ज़ारदार प्रयत्न पर खीज सी उठी। अनिल की दुर्बलता उसके सामने खड़ी होकर हाहाकार करने लगी। शायद सन्ध्या के भीतर की नारी अनिल के इस स्वांग को सह न सकी। सन्ध्या ने उखड़े से स्वर में कहा—

“सो आज भी जान रखो, यह चित्र मेरे बनाये हुये तो नहीं हैं।”

“तब क्या खरीदे हैं।”

“नहीं” कह कर कुछ देर सन्ध्या चुप ही रही, फिर धीरे-धीरे कहने लगी— मानो अपने आप से ही कह रही हो।

“मेरा विवाह हुआ है योगेश मजूमदार से। इनकी एक पत्नी थी मूर्ख, गंवार, बचपन में ब्याही हुई। शायद वह चित्रकला में अच्छी हो। कहा जाता है कि यह सब चित्र उसी स्त्री के बनाए हुये हैं। कई बार सोचा कि इन्हें उतरवा दूँ पर इच्छा ही नहीं होती। कुछ प्रवृत्ति ही नहीं होती और यूँ भी आवश्यकता ही क्या है, सुन्दर दीखते हैं, लगे ही रहे।”

“तुमने उसे देखा नहीं सन्ध्या ?” यूँ ही बात जारी रखने के भाव से अनिल ने कहा—“नहीं, मैंने जिस दिन इस घर में पैर रक्खा, उसी दिन मेरे गृह-प्रवेश से पूर्व ही सुना जाता है उस देवी ने आत्म-हत्या कर ली। शव तो कहीं मिला नहीं, माता-पिता के घर भी नहीं पहुँची, न जाने कहां अन्तर्ध्यान हो गई।”

सन्ध्या को अन्तिम प्रश्न कुछ अच्छा नहीं लगा। इस बार अनजाने ही अनिल ने सन्ध्या के मर्मस्थल को छू दिया। “तुम सुखी तो हो सन्ध्या ?” न जाने क्यों जीवन में पहली बार सन्ध्या की इच्छा हुई कि वह जोर से चीख-चीख कर रो उठे— पर वह रोई नहीं। कुछ देर चुप रहकर उसने उत्तर दिया—“सुखी, मैं सचमुच ही बहुत सुखी हूँ अनिल। पूर्ण मानसिक व शारीरिक स्वतन्त्रता, आदर, स्नेह, धन, वैभव, अधिकार और यत्न इससे अधिक कोई स्त्री और चाह भी क्या सकती है।”

अनजाने ही अनिल के मुख से एक ठण्डी सांस निकल पड़ी। सन्ध्या के भीतर की नारी यह देखकर मुस्करा उठी। इसी समय नौकर ने सूचना दी कि चाय मेज़ पर आ गई है। सन्ध्या स्वयं ही शायद इस अध्याय को बन्द कर देना चाहती थी, चटपट खड़ी हो गई। खिड़की के भीतर से आकर सूर्य की अन्तिम किरण सन्ध्या के काले बालों को छूती हुई उसके गुलाबी गालों पर बिखर गई। अनिल सोया हुआ सा सन्ध्या की ओर देख रहा था। जीवन में पहली बार अनिल को जान पड़ा कि उसने कुछ कहीं पर थोड़ी सी गलती की है; उसने कुछ खो दिया है, भुला दिया है और वही कुछ उसके जीवन का सर्वाधिक सुन्दर था। सन्ध्या का शायद इस ओर ध्यान ही न था, उसने लगभग एड़ी छूती हुई अपनी साड़ी के पल्ले को दाहिने

हाथ पर उठा लिया । ज़री पाइ सन्ध्या की गोरी गर्दन को छूता हुआ अत्यन्त भला लग रहा था ।

“चलो, पहिले चाय पी लें, फिर बातचीत होगी या तुम्हारी इच्छा होगी तो घूमने चले चलेंगे ।”

“चाय पीने का लोभ तो तुम्हें याद ही होगा, मैं किसी समय भी छोड़ नहीं पाता और आज और अधिक बैठ भी न सकूंगा । मुझे बड़े ही जरूरी काम से कहीं जाना है ।”

“हाँ तुम्हारे काम काज की बात तो कुछ पूछी ही नहीं । क्या कर रहे हो आजकल देशभक्त महाराज ?” कड़ुवे, व्यंग भरे स्वर में सन्ध्या ने पूछा ।

अनिल की इच्छा शायद उत्तर देने की न थी । वह वहां से जाने की कल्पनामात्र से भी घबड़ा रहा था, फिर भी कर्तव्य, कठोर कर्तव्य भुलाया तो जा सकता नहीं । टालने के से भाव से कहा अनिल ने, खाने के कमरे की मेज़ के निकट पड़ी हुई एक कुर्सी पर बैठते हुए, “सो फिर किसी दिन फुर्सत से बताऊंगा सन्ध्या ।”

चाय दो प्यालों में डालकर सन्ध्या ने एक प्याला अनिल की ओर बढ़ा दिया ।

“मैं कितना दूध डालता हूँ और कितनी चीनी सो शायद भूल गई सन्ध्या ?”

सन्ध्या ने व्यंग भाव से कहा, शायद चिढ़ाने के लिये—“किस किस की चाय का दूध और चीनी याद रखना करूँ अनिल ।”

सो अब अनिल किस-किस में शामिल हो गया है, अनिल इसके बाद क्या कहता ? चुपचाप दूध और चीनी मिलाकर चाय

पीने लगा । चाय नितान्त अस्वाद लग रही थी फिर भी पीता ही रहा ।

“फिर कब आओगे अनिल ?”

“जब आज्ञा करो ।”

“कल इसी समय आना । खाना हमारे साथ ही खाना । योगेश से भी तुम्हारा परिचय करा दूंगी ।”

अनिल इच्छा करके भी न कह सका कि योगेश से उसका पुराना परिचय है यद्यपि किसी और वेष में ।

“कल नहीं, फिर किसी दिन सही, अच्छा अब मैं चलता हूँ सन्ध्या ।”

“कुछ खाओ तो सही अनिल ! अभी से चलना चलना— तुम्हारी पुरानी आदतें नहीं छूटीं ।”

“केवल पुराने साथी छुट गये सन्ध्या !”

“नये मिल भी तो गये होंगे ।”

अनिल ने व्यंग को तनिक भी अर्थ न देते हुये साधारण रूप से कहा—“नये जीते रहें, किन्तु पुराने थे अपनी जगह और नये हैं अपनी जगह ।”

“इन्शाह अल्लाह, खैर, चलो तुम्हें कार में छोड़ ही आज्ञा । कहां जाना है— इसी बहाने तुम्हारा घर भी देख लूंगी ।”

“मुझे इस समय एक मित्र के घर जाना है और वहां तुम्हारा जाना ठीक नहीं, अभी रात भी नहीं हुई है, मैं पैदल ही चला जाऊंगा ।” उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना अनिल चला गया । सन्ध्या धम से वहीं कुरसी पर बैठ गई । “कौन सा है वह मित्र, कहां मेरा

जाना ठीक नहीं ।” सन्ध्या शायद भूल गई कि एक युग से वह यह जानने का अधिकार छोड़ चुकी है । बाहर निकलते ही अनिल ने कहा मन ही मन—“मायावी तुम धन्य हो । खूब नचाते हो मनुष्य को, अपनी माया से ।

दुभाग्य

:: ५१ ::

“तुम्हें कब से ज्वर आता है ?”

“शायद कई महीने से ।”

“इलाज नहीं किया क्या ?”

“करना चाहा था ।”

“करना चाहा था— का क्या मतलब ?”

“आज से कोई एक महीना हुआ, दवाई ले गई थी; पर आपकी आज्ञानुसार परहेज़ न कर सकी ।”

“ओह” कहकर डाक्टरनी कुछ देर शरीर-परीक्षा करती रही, फिर उसने बिना हिचकिचाए साधारण से स्वर में कहा—“देखो बीबी तुम्हें अनीमिया है, इसी कारण से लिवर भी खराब हो गया है । दवाई लिख देती हूँ, साथ ही साथ लिवर एक्सट्रैक्ट के इन्जेक्शन भी लगातार तीन मास तक लेने होंगे ।” जल्दी जल्दी एक पर्चे पर कुछ लिखकर, श्वेत उज्ज्वल वस्त्र पर पश्मीने का ओवरकोट

धारण किये हुये डाक्टरनी ने चश्मे के भीतर से एक बार दृष्टि बसन्ती पर डाल कर, पर्चा उसके हाथ में थमा दिया। डाक्टरनी दूसरी रोगिणी से बातचीत करने लगी। बसन्ती इतनी देर बातचीत करती रहने से थक सी गई थी। डाक्टरनी की मेज़ के पास वाली कुर्सी से तो उसे उठना ही था, साथ वाली बैंच जो कि उस मेज़ से कुछ हट कर रखी हुई थी, उस पर आकर बैठ गई। बसन्ती नादान न थी, रोग, दुःख और शोक इनसे भी कोई उसका नवीन परिचय न था, जीवन के अन्तिम क्षणों की उसे कोई अत्यन्त उत्सुकता से प्रतीक्षा हो, सो बात भी न थी; फिर भी डाक्टरनी की आज्ञानुसार बसन्ती परहेज़ न कर सकी। घर के बजट में से पति ने बसन्ती के फल और दूध का ज्यों-त्यों धन निकाला था किन्तु वह जाता कहां था, सो शायद पूरी तरह बसन्ती स्वयं भी नहीं जानती थी। कौन जानता था सो भी बसन्ती के लिये पहेली सो थी, फिर भी बसन्ती अपने स्वास्थ्य का अलिदान करके भी.....न जाने क्या करती थी उस धन का। वह दान तो था नहीं.....और.....भी...बसन्ती के सिर में कई मशीनगनें मानो एक साथ ही चलीं। बसन्ती शायद स्वयं अपने को ही नहीं समझ पाती थी और अधिक ठहरना व्यर्थ सा हो था। बसन्ती धीरे-धीरे उठी और सड़क पर आ गई। उसे मार्ग नहीं दीख पड़ता था। दीख रहा था केवल अपना रोग-ग्रसित पंजर शरीर, और औषधि पथ्य का अभाव, तथा विश्वभर की चिन्ताओं से थकित चकित मस्तिष्क। अचानक उसे धक्का लगा और वह गिर पड़ी। तुरन्त ही दो कोमल हाथों ने सहारा देकर उसे उठा लिया। उसे अपनी अचेतनावस्था में ही कार के मडगार्ड से टक्कर लगी थी। कार की मालकिन जो कि स्वयं कार चला रही थी, लगातार हार्न बजा रही थी। बचाते बचाते भी बसन्ती को ज़रा सी ठोकर लग ही गई। कार रुक गई थी, और

कार की मालकिन बसन्ती को उठाने में लगी थी। इसी बीच भीड़ काफ़ी हो गई। भीड़ बढ़ती ही जा रही थी। कई पुरुष इन दोनों नारियों से बातचीत करने के लिये भी अत्यन्त उत्सुक हो उठे थे। बसन्ती का हाथ पकड़ कर उस कार की मालकिन ने कहा—“भीड़ बढ़ रही है, तुम कुछ सहम भी गई हो, तुम्हें मेरे साथ चलना ही पड़ेगा। मैं स्त्री ही तो हूँ, भय की क्या बात है।” कहते कहते वह अत्यन्त सुन्दरी रमणी व्यंग भरी चितवन से बसन्ती की ओर देखकर मुस्करा दी। बसन्ती में वास्तव में ही चलने की शक्ति न थी। युवती ने बसन्ती को ड्राइवर के पास की सीट पर बिठाकर अपना आसन लिया। मज़े की कोई बात न देखकर भीड़ भी तितर-बितर होने लगी— कार चल दी।

“किधर चलूँ ?”

बसन्ती का ध्यान शायद उधर न था, ‘घर’। इसबार युवती ने ध्यान से बसन्ती को देखा, कुछ देर एकटक देखती रही। और फिर कुछ सोचती हुई सी बोली, “पहिले तो यही सोचा था, किन्तु जान पड़ता है कि पहिले अब तो तुम्हें मेरे घर ही चलना पड़ेगा।” बसन्ती सुनकर कुछ घबड़ा सी गई। फिर भी उसने साहस पूर्वक युवती की ओर मुख उठाकर देखा, फिर धीरे-धीरे बोली—“बहन शायद तुम्हें चक्कर पड़े, मुझे जाना है, मुझे यहीं उतार दो, मैं आसानी से जा सकूंगी।”

“पगली, आज जान पड़ता है मुझे पहचानती ही नहीं। बसन्ती मैं तो विशेष बदली भी नहीं हूँ, तू तो बिल्कुल और ही होगई। फिर भी तुझे पहचानने में मेरी आंखें क्या कभी धोखा खा सकती हैं ?”

बसन्ती ने इस बार फिर बड़े ध्यान से युवती की ओर देखा। फिर प्रसन्नता से बोल उठी— “सन्ध्या, तुझे एक दिन भो भूली हूँ, सो बात नहीं; किन्तु यदि अपनी नोन, तेल, लकड़ी की दुनियां में

तुम्हें भुला भी देती तो क्या गुनाह था। खैर आज पूरे एक युग बाद तेरी शकल तो देखी, पर बहिन इस समय तो मुझे घर जाना ही होगा।”

“क्यूं, क्या श्रीमान जी एक क्षण के लिये भी नहीं छोड़ते ?”

“ऐसा होता तो क्या सड़क पर मैं अकेली ही तुम्हारी मोटर के नीचे आने को छोड़ दी जाती।”

“तब क्या अनबन है ?”

“सो भी नहीं।”

“जो हो, ले मेरा घर तो आ भी गया। कुछ देर तो तुम्हें ठहरना ही होगा। तेरे श्रीमान् से मैं जाकर चमा मांग लूंगी।”

“उन्हें चिन्ता तो तब ही होगी, जब वह आयेंगे और चार बजे से पूर्व वह घर आते हैं ही नहीं।”

“समय बहुत है, अभी तो एक ही बजा है।” कार पोर्टिकों में छोड़कर सन्ध्या बसन्ती को लेकर भीतर चली गई। क्षणिक के लिये ड्राईंग रूम के सम्मुख खड़ी हुई, फिर तुरन्त ही मुड़कर बसन्ती से बोली—“सन्तो यहां तो अपरिचित लोगों से परिचय किया जाता है, यहां तुम्हें नहीं ले जाऊंगी। चल तुम्हें अपने निजी कमरे में ही ले चलूं। सच ही, जी चाहता है आज पन्द्रह वर्ष पूर्व की नन्हीं सन्ध्या बन जाऊं।” वाक्य के अन्तिम अंशों में तो मानो सन्ध्या का हृदय सजीव तड़क रहा था। बसन्ती सन्ध्या के वैभव को देखकर कुछ इतना सहम गई थी कि वह बोल पाई ही नहीं। खट खट सीढ़ियां चढ़ती हुई सन्ध्या एक मंजिल पार करके बसन्ती को एक कमरे में ले गई। दरवाजों पर सुन्दर गहरे हरे रंग के पर्दे पड़े थे, पर्दा उठाकर सन्ध्या ने भीतर पहुँचते ही अपना बटुवा छोटी मेज पर बेतरतीब डाल दिया, और फिर चकित सी खड़ी बसन्ती को हाथ पकड़ उसने मानो बरबस

अपने चौड़े सुन्दर वेशकीमती वस्त्रों से सजे पलंग पर खींच सा लिया। बसन्ती बैठ गई, सन्ध्या भी अधलेटी सी बैठी, दोनों ही कुछ देर चुप रहीं। “बसन्ती तू यह सब देख कर चकरा गई क्या ? अरी, इन सब का कितना अधिक मूल्य मैंने दिया है और दे रही हूँ, सो सब क्या तू आज जान पायेगी। पर जाने दे, आज पन्द्रह वर्ष बाद पुरानी सखियां मिली हैं, पहिले कुछ सुख दुःख की बात हो जाये। सच ही सन्तो, आज मुझे तेरी ही ठीक जरूरत थी, बिल्कुल तेरी। अरी कुछ बोल भी।”

“सन्ध्या ! तू तो सचमुच बिल्कुल ही नहीं बदली—वही स्कूल के दिनों की सन्ध्या है। तू बोलने का तो मुझे समय देती ही नहीं।” सचमुच अब बसन्ती बहुत कुछ संभल गई थी। बसन्ती के लिये इतने वैभव के दृष्टि तले आना कोई इतनी विचित्र बात न थी, फिर भी यह सब कुछ उसका सुपरिचित भी न था। जीवन में कभी किसी दिन उसने शायद इतने अलौकिक वैभव का स्वप्न देखा हो, लेकिन आज तो वह स्वप्न भी मानो मन, प्राण से सर्वथा लुट गया था। आज फिर उसकी सिहरन सी आकर बसन्ती के मन, प्राण में चुभने लगी, रोग की बात वह भूल गई..... अनिल की बात, फल और दूध की बात..... मुन्ने की बात, यहां तक कि पति की बात भी चण्णक को उसको दृष्टि से परे होगई। उसे तो केवल एक ही बात दीख पड़ने लगी स्पष्ट रूप से अपनी दृष्टि के सम्मुख, और वह थी सन्ध्या। अपनी कल की सखी सन्ध्या, और सन्ध्या के आज के वैभव की बात..... यही सन्ध्या स्कूल के जीवन में, सन्तो के एक कृपाकटाक्ष की कितनी बड़ी अभिलाषी रहती थी। सन्ध्या ने बसन्ती को चार बजे तक उठने न दिया। बड़ी कठिनता से चार बजे छुट्टी मिली।

“सन्तो ! तुझे स्वयं जाकर छोड़ आना चाहती थी, पर ठीक साढ़े

चार बजे मैंने किसी और को समय दिया है, चमा करना । द्वाइवर घर देख आयेगा । फिर किसी दिन आऊंगी, पर तुम मुझे भूल भी न जाना, दर्शन देती रहना ।” इस समय बसन्ती भी प्रसन्न थी । खुल कर बोली—“मेरे पास तो कार है नहीं सन्ध्या ?”

“मैं स्वयं लेने आजाऊंगी, तुम्हें भी और तेरे दर्शन करने भी ।” दोनों हंस पड़ी । बसन्ती कार में जाकर बैठ गई भूखी सी, और सन्ध्या बरामदे में खड़ी खड़ी ही देखती रही । कार जिस दिशा में गई थी, उस दिशा की ओर खोई खोई सी, सन्ध्या सोच रही थी । “जान पड़ता है यह सुखी है, सन्तुष्ट है, पति और उस घर पर इसकी भक्ति है, और सन्तान पर स्नेह, फिर भी, फिर भी.....नहीं, सो बात मैं नहीं सोचूंगी, इसके पास क्या नहीं है ?.....और मैं मैं कितने दिनों से प्रतीक्षा कर रही हूँ.....”

विचार श्रृंखला ढीली हो गई थी । सन्ध्या खोई जा रही थी । बरामदे में साधारण अतिथियों के लिये पड़ी हुई कुर्सी पर धम से बैठ गई, घर की मालकिन । उसमें ऊपर तक पहुँचने भर की शक्ति भी नहीं रह गई थी । “तब फिर यह क्या मुझसे अधिक सुखी है..... कैसे.....इसकी धोती सिली हुई थी, चप्पल घिसे हुये..... पर...पर...पर.....नहीं, नहीं.....उसकी वाणी में तृप्ति थी, मन में सन्तोष.....यह सब कुछ क्या है—यह बार्डर की साड़ी, और स्वेड के क्रेम सोल के जूते.....और और.....मेरा योगेश— नहीं नहीं अनिल.....” सन्ध्या का मन मानो स्वयं से विद्रोह कर डालना चाहता हो । वह विद्रोहिनी नारी जो संसार भर से विद्रोह कर पाती थी, स्वयं से विद्रोह करने चली थी । “यह मेरा सौभाग्य है अथवा दुर्भाग्य । बसन्ती चार बजे के बाद बाहर नहीं रह सकती । उसका पति घर लौटेगा, सन्तान घर लौटेगी; बसन्ती न होगी तो उन्हें चाय

कौन देगा, और सन्ध्या.....सन्ध्या की तो वहां कोई आवश्यकता नहीं है।” सन्ध्या को जान पड़ा कि घर की असंख्य बेकार सजावट की वस्तुओं में से वह भी एक है। योगेश के लिये इससे अधिक उसका मूल्य ही नहीं है। तड़फ उठी सन्ध्या.....यह मूल्य है अभिमानिनी सन्ध्या का.....उसके पति को नौकर चाय पिला सकते हैं, सन्ध्या पर कोई उत्तरदायित्व नहीं, उसे कोई डांटने वाला नहीं, वह स्वतन्त्र है।.....सन्ध्या को यह स्वतन्त्रता आज कठोर सी जान पड़ी, उसका जी चाहा कि वह कह उठे कि मेरे बिना योगेश चाय कैसे पी सकेगा ? उसे मेरे सिवाय कौन चाय दे सकता है। पर नहीं, योगेश तो यह कहेगा नहीं। अनिल भी आज नहीं कहता है, कोई भी नहीं, कहीं भी नहीं, कहीं भी नहीं। यह ‘कोई भी नहीं’ और ‘कहीं भी नहीं’ सन्ध्या के अन्तर में लोहे की कील की तरह जाकर गड़ गई। दर्द से सन्ध्या तड़फ उठी। कैसा भयंकर था उसका दुर्भाग्य।

उधर बसन्ती मोटरकार के नरम गद्दे पर बैठी दूसरी दुनियां ही में थी। “कितना नर्म है यह गद्दा, कितना सुन्दर, कितना आनन्द आता है मोटर कार में चलने में। कितनी तेज है गति, कैसी भली वायु लगती है।” एक क्षण को बसन्ती भूल गई कि कार उसकी नहीं है। उसने बड़ी ही सुन्दर दृष्टि से चालक की ओर देखा मानो वही मालकिन है, पर स्वयं ही मानो अपने आप से भेंट गई.....शरमा गई। “कितनी अच्छी है यह सन्ध्या। भला मुझे भूली नहीं..... कितनी धनी है, वैभव चरणों पर लोटता है फिर भी कितनी निराभिमान। कितने प्रेम से मिली मानो सगी बहिन हो और एक हम हैं रात दिन भाग्य का ही रोना; नोन, तेल, लकड़ी, हारी, बीमारी ही समाप्त नहीं होती, करें तो क्या करें ? कुछ सूझता ही नहीं, रुपया तो मानो हाथ में टिकता ही नहीं। इसने कितनी शानदार चाय पिलाई है, किसी

न किसी दिन हमारे घर भी आन टपकेगी । मैं भला इसे कहाँ बिठाऊंगी और क्या खिलाऊंगी । खैर जाने दो, हम गरीब हैं तो गरीब ही सही । गरीब क्या मनुष्य नहीं होते । न जो करें तो न आयें..... हम.....क्या.....?".....न जाने क्यों गरीबी की याद ने ही बसन्ती को स्वयं अपने आप ही से विद्रोह करने को लाचार कर दिया ।

“यही सन्ध्या बसन्ती से एक दिन गुण और बुद्धि में बहुत पिछड़ी हुई मानी जाकर, सहायता की भित्ति माँगा करती थी । यही सन्ध्या.....यही सन्ध्या.....” बसन्ती को लगा, कि सड़क पर चलने वाले सब ही बसन्ती की ओर देख रहे हैं । उसके साधारण अधमैले वस्त्रों की ओर और मोटर कार के चमकते रंग और नई गड़ियों की ओर देख कर खिल्ली उड़ा रहे हैं । बसन्ती को जान पड़ा क्षणिक को कि वही कार की मालकिन है । उसने तुच्छ सो ओछी सो दृष्टि से सड़क पर पैदल चलने वालों को देखा, पर भाव अधिक देर तक ठहर न सका; स्वयं अपने आप से बसन्ती लजा गई अपने धोंके पर । उसने एक बार इच्छा की अपने आप को धिक्कारने की । ज्योंही उसने अचानक बाहर दृष्टि डाली तो घर के द्वार पर दीख पड़ा अनिल । बसन्ती ने कार रुकवा दी, द्वार खोल कर उतर पड़ी । अनिल ने एक प्यासी सी कुछ माँगती सी दृष्टि से देखा बसन्ती की ओर । बसन्ती ने माँ के से सरल स्नेह से अनिल की ओर देख कर कहा — “बड़ी देर प्रतीक्षा करनी पड़ी क्या ?”

“पूरा एक घन्टा हो गया खड़े खड़े ।”

“अन्दर चलो ।”

“नहीं, अब श्रीधर आने वाले हैं । कल मिलूँगा तीन बजे । घर ही होगी ना ?”

“हां ।” बसन्ती अधिक आग्रह न कर सकी । वह स्वयं भी कुछ घबराई हुई सी थी ।

ठीक इसी समय सन्ध्या प्यानो के सामने बैठ कर धीमी ध्वनि से गा रही थी “न मैं बरबाद हूँ तो कहना.....।” मुख में चुरट दबाये मिस्टर अब्बास सामने के सोफे पर बैठे थे। सन्ध्या गाते गाते रुक गई।

“क्यों, गाओ न, गीत तो बड़ा ही मीठा है।”

“हां, पर अब इच्छा नहीं होती।”

“वाह, इतना मीठा स्वर हो, आवाज में इतना दर्द हो, और फिर भी गाने की इच्छा न हो, तो यह तो कुदरत का जुल्म ही कहलायेगा।”

“हां” सन्ध्या उसी प्रकार बैठी रही और फिर एक दम अब्बास की ओर घूम कर बोली-“हो सकता है यह कुदरत का जुल्म ही हो, लेकिन आज न तो घूमने की ही इच्छा होती है और न गाने की ही। मिस्टर अब्बास अब आप क्लब जायेंगे ना ? जाईये मैं तो आज क्लब नहीं जाऊंगी।”

“क्यों, क्या आप की तबियत कुछ खराब हो रही है ? जाने दें, फिर मैं भी नहीं जाता, यहीं बैठा रहूंगा।”

“नहीं, मेरी तबियत ठीक है, योगेश आते ही होंगे। आज उन्हें भी क्लब नहीं जाना है और मेरा भी कोई खास प्रोग्राम तो है नहीं वहां। लेकिन आप अब और देर न करें, आपका तो आज फाइनल मैच है ना ?”

“मैच तो मिस भी किया जा सकता है।” अब्बास की इच्छा जाने की न थी, ढिठाई से बैठा ही रहना चाहता था पर सन्ध्या खड़ी हो गई। जैसे तैसे एक प्रकार से बरबस अब्बास को बिदा देकर ज्योंही अन्दर की ओर मुड़ी तो सामने खड़ा दीख पड़ा योगेश ?

“कब आये ?”

“अभी ही तो ।”

“कहां ? कार की आवाज तो सुनी नहीं ।”

“पैदल ही चला आया । तुम क्लब नहीं गई आज ?”

“नहीं, इच्छा नहीं हुई ।”

“मुझे तो अभी आधे घण्टे में फिर लौटकर जाना होगा ।”

सन्ध्या चिढ़ उठी । आज उसे स्वयं अपने आप पर हो घनो भुंक्लाहट सी आने लगी ।

भाभी का हृदय

:: १२ ::

काली स्याही का रंग भी शायद उन घने काले बादलों जैसे बालों से अधिक काला न होगा । नदी तट पर पानी की लहरों पर दृष्टि जमाये हुये प्रायः मुख के अधिकांश भाग को वह काले बालों से ढके हुये बैठी नारी निराश थी, अथवा आशामयी, कौन कह सकता है । बड़ी देर तक वह नारी ठीक उसी प्रकार गर्दन झुकाये बैठी रही, चुपचाप शान्त सी बिना दिले डुले ।

“ओह, आज भाभी तो एकान्त सेवन कर रही हैं ।” नाव पर से एक धीमी सी स्वर लहरी युवती के काले बालों को छेद कर शायद

उसके कानों तक पहुँच गई। युवती चौंक उठी, शायद झेंप सी भी गई। इसी बीच नाव को किनारे के एक वृक्ष से अटका कर हमारा परिचित अनिल भाभी के निकट ही आ खड़ा हुआ।

“क्या कर आये ?” युवती ने शायद बड़े परिश्रम से कहा।

युवक बहुत ही अधिक थका हुआ जान पड़ता था। माथे पर पसीने की बूँदें भी थीं। तुरन्त ही बैठ गया।

“भाभी, काम के अतिरिक्त शायद और कोई बात करने के लिये शब्द हो तुम्हारे शब्द-कोश में नहीं हैं।”

“सो बात नहीं, अनिल ! यूँही पूछ बैठी और भला पूछ भी क्या ?”

“क्यों, क्या हमारे परिवार के व्यक्ति मानवेतर हो चुके हैं, उन्हें और किसी हल्के फुल्के प्रश्न से सम्बन्ध रखना भी वर्जित कर दिया गया है ?”

“अनिल, तुम क्या चाहते हो भईया ? कुछ घबराये हुए से जान पड़ते हो।”

“भाभी केवल मैं ही घबराया हुआ होता तब तो कोई बड़ी बात न थी। मैं दुर्बल हूँ, शक्ति हीन हूँ, किन्तु अतुल मानसिक बल का परिचय देने वाली मेरी भाभी क्या आज घबराई हुई नहीं हैं। सब ही तो घबराये हुए हैं।” अनिल का मुख लटक गया। अभी कुछेक क्षण पूर्व की संध्या उसके सम्मुख नाच उठी। भाभी की इच्छा शायद अधिक बातचीत करने की न थी। वह पूर्ववत् मौन हो रही, पर अनिल के भीतर की अग्नि अधिकाधिक जल उठी। उसके हृदय में एक इच्छा जल उठी कि यह अतुलनीय सुन्दरी एक बार, केवल एक बार, मेरे निजी जीवन तक, मेरे हृदयतल तक पहुँच जाये, पहुँच सके। न जाने

क्यों आज अनिल के हृदय में यह विचित्र इच्छा नाथ रही थी ।

भाभी का ध्यान शायद इस ओर न था । उसको लाल-लाल आंखें कुछ जल सी रही थी, कुछ बुझ सी रही थी । उसने धीरे से मुख कुछ ऊपर करके ठीक अनिल की आंखों में आंखें डालकर कहा—
“अनिल ! तुम्हारी भाभी के जीवन में जितने दुःख, जितने सुख और जितनी हलचलें आई हैं, उन सब का सम्मिलित इतिहास भी जब उसके भीतरी भाग को हिला पाया नहीं, तो भला आज वह कैसे घबरायेगी ?”

अनिल ने मानो प्रश्न सुना ही नहीं, भाभी की गहन-गम्भीर दृष्टि भी मानो उसके जगत से परे की ही वस्तु थी । वह एक टक भाभी की दृष्टि शायद सहन नहीं कर पाया इसीलिये उसने दृष्टि फेर ली नदी के बहते हुये जल की लहरों की ओर । दोनों ही क्षणिक निस्तब्ध थे, चुपचाप थे । भाभी की इच्छा हो रही थी कि अनिल चला जाये और वह जी भर कर रो ले । अनिल उठ खड़ा हुआ पर गया नहीं, भाभी के कन्धों के ठीक पीछे आकर खड़ा हो गया—“भाभी, सुनती हो भाभी ! जीवन जहां से आरम्भ होता है, वहीं तुम आज खड़ी हो इस सन्धि स्थल पर, चाहो तो जीवन को सन्तुष्ट लो, जान लो अथवा यावज्जीवन पड़ाना ही तो हाथ लगेगा ।”

“जीवन को समझना क्या होता है सो शायद मैं न जान सकूँ, पर जीवन से परे जो कुछ रहा हो वह भी मेरे लिये कल्पनातीत है । जाने दो ऐसे समय में मुझे ऐसी बातें करनी भी नहीं चाहिए, समय भी कहां है ?” भाभी शायद एक हल्की-सी ठंडी सी सांस के भीतर बहुत कुछ दबा डालना चाहती थी पर अनिल मानो उबला जा रहा था सिर से पैर तक, मानो उसका समस्त शरीर जल उठा था ।

“भाभी ! जिस दिन मैंने सब से पहिले तुम्हें देखा था, उस दिन

मुझे जान पड़ा था कि कोई तीखी अग्नि-शलाख कहीं से चमचमाती हुई आन पड़ी है। तुम पर दृष्टि नहीं टिकती थी, भले ही वह दृष्टि जलाने वाली, भस्म करने वाली दृष्टि क्यों न हो। पर फिर एक दिन देखा अपनी भाभी को उस दिन वह शाप ग्रस्त उर्वशी सी जान पड़ी और आज देखता हूँ कि न तो वह अग्नि ज्वाला ही है और न उर्वशी ही, वह तो एक नारी—भूखी.....प्यासी हृदय की आवाज को हृदय में दबाये हुये नारी ही है फिर इतना आडम्बर क्यों ? इतना बन्धन क्यों ? इतना घेर घोंट क्यों ?”

भाभी चुप थी, बिल्कुल चुप। पूरे पांच मिनट बाद भाभी ने अपनी सुन्दर पानीदार आँखें उठा कर कहा—“अनिल ! मैं सचमुच ही बड़ी हतभागिनी हूँ। जीवन भर प्रत्येक के लिये मैं एक समस्या ही बनी रही और आज भी सबके लिये तो क्या, स्वयं अपने लिये भी एक समस्या ही बनी हुई हूँ, ऐसी एक समस्या जिसका न आदि है और न अन्त, जो न शुरू होती है और न खतम। जो इच्छा हो तुम कह लो फिर भी मेरे लिये यह सब अर्थ रखते ही क्या हैं ?”

“किन्तु मेरे लिये तो इनके बड़े अर्थ हैं भाभी !”

“सुनो अनिल ! सुख-दुःख कोई बरबस छीना नहीं जा सकता। बस दूर पर बैठे हुये घटक ने जिसके भाग्य में जो कुछ बरबस ठूस दिया है, उसी को जीवन की बची-खुची जमा पूंजी समझ कर जीवन की शेष यात्रा भी पूरी कर देना ही उचित जान पड़ता है भाई मेरे !”

“भाभी मैं दुःखी हूँ, बहुत दुःखी हूँ, अत्यन्त पीड़ित हूँ, शायद इसी घने दुःख के एकाध छिंटे आपके ऊपर भी जलते अंगारे बनकर गिर गये हों। सच ही भाभी ! मेरे भीतर जलती हुई अग्नि एक दिन दब गई थी, आज दुर्दिन में.....नहीं, जाने दो तुम भाभी हो न ? इसीलिये यह सब कुछ कहता जा रहा हूँ।”

“अनिल भाई, दुःख ने आज तुम्हारा माथा खराब कर दिया है, तुम क्या कहना चाहते हो सो मैं जानती हूँ, फिर भी मुझे तुमसे न तो भय ही है और न चिन्ता ही।”

“ठीक यही बात सब ही तो मुझ से कहते हैं। यही बात दीदी ने कही थी, यही सन्ध्या कहती है और यही कहती हैं भाभी।”

“सन्ध्या कौन अनिल ?” कुछ हकलाते से स्वर में कहा भाभी ने।

“सन्ध्या, सन्ध्या, तुम नहीं जानती सन्ध्या को। कैसे जानोगी ? वह है सन्ध्या मजूमदार—मिसिज़ मजूमदार।”

भाभी का मुख न जाने क्यों एक बारगी कुम्हला सा गया, फिर भी कुछ सम्भल कर स्वर को सहज गम्भीर बनाकर बोल उठी—
“फिर”

“फिर क्या ? वह कहती थी कि उसे न मुझसे भय है और न चिन्ता और किसी को भी मुझसे भय हो भी तो क्यों ? मैं मनुष्य थोड़े ही हूँ। लोग तो डरा करते हैं शक्तिशाली लोगों से, उनसे जिनकी सत्ता हो, मान हो, प्राण हो, मेरे जैसे लोगों का क्या ? जिसका न घर और न घाट।”

एक क्षण के लिये भाभी का मुख सूख गया। शायद वह सन्ध्या के विषय में कुछ और सुनना चाहती थी, फिर भी इच्छा को मन ही मन दबाकर धीमे से स्वर में उसने कहा कुछ स्नेह से, शायद भाभी मन ही मन कह उठी थी कि—“भाई मैं भी तुम्हारी तरह घर घाट रहित हूँ। इस भाव से मैंने तो कम से कम कहा था नहीं। अनिल ! हो सकता है, तुम्हारी सन्ध्या देवी ने ऐसा सोचा हो, पर मैंने तो केवल इसी भाव से कहा था कि जो रक्तक हैं, वह भक्तक कैसे बन सकेगा भला ?”

“ किसी भाव से भी कहो भाभी, बात एक ही है। सच ही भाभी, आज मैं खानाबदोश हूँ। पर यही सन्ध्या जिस दिन मेरे पैरों पर माथा रखकर मन-प्राण से मुझे प्रणयपाश में फंसा रखना चाहती थी सदा के लिये, उस दिन तो मैं खानाबदोश नहीं था। मुझे दुःख नहीं है, खानाबदोशी भी मेरे प्राणों का सत्व बन उठी है, क्यों कि यह कुछ मेरे लिये लाचारी तो थी ही नहीं, यह तो है निमन्त्रित।”

तीक्ष्ण बुद्धि भाभी तुरन्त ही समझ गई कि अनिल के दर्द कहां है। आज बिचारा कहीं से घना दर्द, तीक्ष्ण पीड़ा और तेज ताने लेकर मन की तन्त्री में झनझनाहट भरी गुंजार लेकर आया था। मनुष्य सहानुभूति की भूख लेकर जब भी कहीं जाता है, प्रतिक्रिया स्वरूप यदि उसे मिले झिड़की, दुत्कार और अपमान तो वह प्रतिहिंसा हो उठती है कठोर दूसरे के प्रति, किन्तु स्वयं अपने भीतर ही भीतर वह दीन बन के रो उठती है, स्वयं अपने ही खस्ता हाल पर। स्वर की कठोरता उस पर कुछ ऐसा प्रभाव डालती है कि मन-प्राण ज्वालामय हो उठते हैं। भाभी इस समय कहती भी क्या, और यदि चुप ही रहती तो भी क्यों कर। सहज स्वर को यथासम्भव सरल बनाकर धीरे धीरे स्पष्ट उच्चारण से भाभी ने कहा—“हो सकता है किसी के लिये खानाबदोशी लाचारी हो, किसी के लिये अपमान हो, किन्तु किसी के लिये खानाबदोशी आदर, मान का कारण भी तो हो सकती है अनिल !”

इस समय तक अनिल का भूत उतर चुका था। हृदय पर ठेस लगने पर पहला धक्का होता है क्रोध का, दूसरा लोभ का, और तीसरा बह उड़ता है आंसुओं के रूप में। अनिल की दो अवस्थायें पहिले बीत चुकी थीं, और तीसरी अवस्था पहुँचने ही वाली थी।

“भाभी ! तुम्हारा अपमान कर सकूँ, ऐसी न तो कोई शक्ति है

और न इच्छा ही। पर सन्ध्या के कुछ अप्रत्याशित ढंग ने मुझे इसबार मन-प्राण से इस तरह झकझोर डाला कि मेरा समस्त व्यक्तित्व ही बदल उठा। कर सकती हो तो क्षमा कर देना।”

“सो मैं जानती थी अनिल ! क्षमा कर सकने भर की भी क्षमता अपने भीतर न पाती तो क्या विश्वब्रह्माण्ड में यूँ सहज ही जीवन यात्रा की डोरी लम्बी करती जा सकती थी ?”

दोनों के बीच की अप्रिय बातचीत मानो क्षणमात्र में बह गई, जल गई। अनिल की दृष्टि में घनी झुंझलाहट, लाचारी, बेबसी और व्याकुलता थी, भाभी की दृष्टि में दृढ़ता, निराशा और उदासी।

भाभी ने भी फिर कहा—“सचमुच ही मैं घबराई हुई हूँ अनिल ! पर इस घबराहट का जन्म नारी की अतृप्तवासना से न होकर कर्मशीलता की थकान से हुआ है। मैं थक गई हूँ संघर्षों, मानसिक संघर्षों से। निरन्तर लड़ते रह सकने योग्य शक्ति मेरे भीतर पर्याप्त मात्रा में है, पर मैं तो थक गई हूँ उन मानसिक संघर्षों की विश्वव्यवहार से लगने वाली टक्करों से।”

“तुम थक भी सकती हो भाभी, यह तो मैंने किसी दिन भी न सोचा था, कल्पना ही नहीं कर सका था। मेरे जीवन में अनेकों नारियाँ आईं; सन्ध्या, दीदी, करुणा, भरणी कहां तक गिनाऊँ, किन्तु तुम सरीखा अदम्य उत्साह और स्थिर बुद्धि शायद ही किसी रमणी में हो, समुद्र जैसी मर्यादा शील भाभी थक गई हैं, यह कैसे मानूँ।”

“यही तो विडम्बना है विधि की। ज्वालामुखी के फटने पर उससे निकलने वाली ज्वालारें, पत्थर, आग, शोले तो विश्व में सब को ही देख पड़ते हैं, किन्तु पृथ्वी के भीतर छिपा हुआ उनका कारण प्रायः सबको दीख नहीं पड़ता। यहां तक कि यदि ज्वालामुखी फट न

जाये तो यह विश्वास कर सकना भी कठिन होगा कि पत्थरों के घने समूह के विशाल हृदय के भीतर आग ही आग, ज्वाला ही ज्वाला भरी होगी ।”

“भाभी ! मेरी दुर्बलता, तुम्हारी उदासीनता संयमन शक्ति के नीचे किस प्रकार दब गई, यह तो मैं स्वयं भी जान सका नहीं, फिर भी तुम कहती हो कि तुम थक रही हो—कौन सा सत्य है और कौन सा मिथ्या, कौन कह सकता है ?”

“जाने दो अनिल ! सत्य और मिथ्या की व्याख्या न कभी विश्व में हुई है और न कभी हो सकेगी । फिर भी आज सचमुच ही जान पड़ता है कि तुम्हारी उदासी ही भाभी मन-प्राण से थकने लगी है ।”

“भाभी, तुम्हें मालूम है, मैं नारी मात्र से घृणा करता हूँ । एक दिन.....एक दिन जब कि मैंने उसे अत्यन्त निकट से देखा था, पहिचानने की कोशिश की थी, उसी दिन मुझे उसके रूप की वह झाँकी मिली थी ।.....जाने दो भाभी, तुम नारी हो, तुम्हारे सम्मुख वह सब कुछ न कह सकूँगा ।”

“अनिल ! निराशा का भार न सहन कर सकने पर गाली देना भले ही न शोभा देता हो, किन्तु वह गाली हमारी अपनी दुर्बलता का ही प्रतीक नहीं है, यह कौन कह सकता है ?”

“जानता हूँ, फिर भी.....”

“बस, रहने दो, दुनियाँ में बहुत सी बातें यदि न कही जायं, तब ही शोभा देती हैं ।”

“सो तो मैं कहना चाहता भी नहीं था । मैं तो केवल यही कहना चाहता था कि नारी के प्रति हृदय में गहरी उदासीनता लेकर

भी केवल तुम्हें ही घृणा की दृष्टि से देख नहीं पाता भाभी ! न जाने क्यों ?”

“अनिल भाई, मेरे लिये इन दोनों ही मानसिक भावनाओं से कोई अन्तर पड़ता है नहीं। जहां जाकर विश्वभर की भावनायें नष्ट प्रायः हो जाती हैं, वही स्थान आज मेरा लक्ष्य बना हुआ है। पर अब और नहीं, देर होगई है, घर पहुँचना ही चाहिए।”

निस्तब्ध रात्रि में कैसे प्रकृति के हल्के आंचल से वह दो व्याकुल प्राणी सांसारिक संसृष्टों की ओर चल दिये। देखा, केवलमात्र जल की हिलती हुई लहरों ने, पेड़ पत्तों की कांपती शाखाओं ने, और शाखाओं से छू कर बहती हुई वायु ने। और फिर चण्णक हल्की चापों की आवाज़ आ चुकने के पश्चात् सब शान्त था, सब शून्य था, और थी प्रकृति निस्तब्ध।

फिर सन्ध्या

:: १३ ::

“जीवन के जो क्षण लौटने वाले नहीं होते, उनकी याद से भी क्या लाभ होगा बसन्ती ?”

“नहीं होगा, जानती हूँ, फिर भी मनुष्य में परिवर्तन क्यों होता है और वह क्षणिक परिवर्तन को ही कम से कम उस क्षण क्यों सत्य मान बैठता है, सो ही नहीं जानती।”

“जानना चाहती हो ?”

“शायद”

“क्या करोगी जानकर, जानने का लाभ भी क्या है ?”

निस्तब्धता ने दोनों के बीच के हल्के से अन्धकार को घना कर दिया ।

“मेरे जीवन में न जाने कितने क्षणों में कितने क्षणिक परिवर्तन आये और चले गये । फिर भी क्या वर्षों पूर्व की सन्ध्या कुछ आज की सन्ध्या से भिन्न थी बसन्ती ?”

“नहीं, लेकिन कैसे तुम इतने घनघोर परिवर्तनों के बीच भी अपनी सत्ता को बचा पाती हो सन्ध्या ! यही तो आश्चर्यजनक दीख पड़ता है ।”

“किन्तु इसमें जरा भी कहीं कोई आश्चर्य नहीं है । क्षणों का अपना मूल्य होता ही क्या है, परिवर्तन ही तो उनका मूल्य निर्धारित करते हैं.....।”

“सुनो,” फिर से सन्ध्या ने कहा—“एक मेरा मित्र था, बड़ा ही सजीव, बड़ा ही जीवित और बड़ा ही तीक्ष्ण बुद्धि.....जीवन के जिन क्षेत्रों तक हरेक व्यक्ति कभी पहुँचने का स्वप्न भी नहीं देख सकता, वहीं वह सहज पहुँच जाता था, और फिर क्षण भर में उसके जीवन का स्वप्न उलट गया.....एक तीक्ष्ण आघात पाकर वह आघात क्या था, आज न कहूँगी, किन्तु.....कुछ ही दिनों बाद वह एक दूसरा ही व्यक्ति बन गया ।”

“किन्तु तुम फिर भी वही रही सन्ध्या, दूसरों के परिवर्तन का भी शायद तुम पर कोई असर नहीं होता ।”

“अब नहीं होता बसन्ती ! शायद इसलिये कि मुझे जीवन

में जितने अधिक परिवर्तन देखने पड़े हैं, शायद वह किसी भी मनुष्य की सहनशक्ति को धक्का लगाने के लिये काफ़ी थे। पर मुझे तो जान पड़ता है कि आदत ही पड़ गई है।”

“केवल इसीलिये कि परिवर्तनों का न होना ही कोई बड़ी भारी प्रशंसा की बात नहीं है। फिर भी यह तो ध्रुव निश्चय सा ही है कि परिवर्तन को मानव प्यार नहीं कर पाता।”

“यह उसकी कमजोरी है। मेरी एक सखी थी, अचानक उसको हैजा होने से दो दिन में मृत्यु हो गई। सच मानो बसन्ती ! उसे मृत्यु शैया पर देखकर मुझे जान पड़ता था कि मैं फिर जी न सकूंगी, पर आज दिन भी मैं ज्यो की त्यों हूँ, हंसती-खेलती हूँ, गाती-नाचती हूँ—सो कैसे ? इसीलिये ना कि उस समय मैं यह समझती न थी कि परिवर्तन ही तो विश्व का नियम है।”

“हो सकता है तुम्हारी ही बात ठीक हो किन्तु बरबस परिवर्तन को झूठा करके पुरातन से ही मानव चिपटा रहना क्यों चाहता है ? सन्ध्या ! उनके मुख की हर मुस्कान, उनके जीवन का हर क्षण, उनके दूसरे ही होने की सूचना देता है, फिर भी वह बरबस मुझे यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि वह वही हैं, पुराने ही हैं। और यही तो मेरे जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना बन रही है।”

सन्ध्या खिल-खिलाकर हंस पड़ी, मानो बसन्ती ने कोई बड़ी भारी मज़ाक की बात कह दी हो। बसन्ती क्षणिक को अप्रतिम-सी हो गई, फिर भी उसकी आँखें भर सी आईं। सन्ध्या कुछ देर तक अकारण ही जोर जोर से हंस कर कहने लगी—“यहीं तो मनुष्य अपने आप को सबसे बड़ा सफल धोखा दे पाता है। वह अपने आप को विश्वास दिलाना चाहता है कि वह स्वयं अपना शासक है, अपना

नियन्ता है, किन्तु उस बिचारे को क्या मालूम कि नियन्ता उस से दूर.....दूर कहीं छिपा बैठा, उसके मन, प्राण का चुपचाप ही संचालन कर रहा है। उस गुप्त संचालन-क्रिया के इतिहास में बिचारे मानव का तो स्थान ही नहीं है।”

“हो सकता है किन्तु जिन्हें एक दिन स्वाङ्ग पूर्ण ढङ्ग से पूजा का पात्र जान कर ग्रहण किया था, आज उन्हीं का उस महान स्थान पर स्थापित गौरव पद देखकर मेरा हृदय क्यों फटने लगता है।”

“यह भी तो आवश्यक ही है।”

“सन्ध्या, तू तो एक जीवित पहेली है किन्तु मैं तो मनुष्य हूँ। सफेद को सफेद और काले को काला कहना ही मेरा स्वभाव है। आज से वर्षों पूर्व का जो प्रियपात्र मुझसे खो गया है उसे न पाकर परिवर्तन के बौद्धिक सत्य में विश्वास करके शान्त रह जाना मेरे लिये तो सम्भव है नहीं।”

“तब क्या करेगी ? अशान्त रहेगी सो भी कितने दिन, कितने क्षण और कितने पल। आखिर एक दिन शान्त होना ही पड़ेगा और गति ही क्या है ?”

“एक दिन कक्षा में अध्यापिका ने कहा था कि परिवर्तन का आरम्भ सदा मन से होता है; कहे हम चाहे जो भी, परन्तु विश्वभर के समस्त परिवर्तन हैं जड़ में मानसिक ही। यदि यह सत्य है तो क्या सचमुच मुझ से ही परिवर्तन शुरू हो रहा है ?”

“हो सकता है।”

“तुम तो मानो मेरी समस्या पर ध्यान देना ही नहीं चाहती।”

“बसन्ती, नगर भर के समाज में आज कहीं सुन लो सन्ध्या

की चर्चा तुम्हें सुन पड़ेगी। सुन्दरी, अद्वितीय सुन्दरी, विलासिनी सन्ध्या शायद सब की ही चर्चा का विषय है। यूँ भी सन्ध्या, विश्व के विभिन्न भागों में घूमती-फिरती हुई सन्ध्या अत्यन्त समाज प्रिय मालूम पड़ती थी, मानी जाती थी; सब की ही समस्याओं में उसे दिलचस्पी थी, वह सब की ही समस्याओं पर ध्यान दिया करती थी किन्तु आज उसके निकट कुछ भी तो समस्या रूप में रह गया नहीं है। इसी से तो उसे कोई समस्या दीख पड़ती नहीं है।”

“पति का मानसिक परिवर्तन भी पति के लिये कोई समस्या नहीं है क्या ?”

“नहीं, यही तो मैं कह रही थी। विश्व को अपने चारों ओर बड़ी जोर से लपेटकर जो कहना चाहते हैं कि उन्हें छुटकारे की आवश्यकता है, वह गलती ही तो करते हैं।”

“सन्ध्या तुम अपील कर रही हो, अलिप्त रहने की।”

“हूँ ! मैं आनन्द उठाती हूँ, नाचती गाती हूँ, क्लब भी जा हूँ। पर सचमुच ही बसन्ती किसी दिन इच्छित वस्तु की आशु मुझे दुःख नहीं होता, और प्राप्ति का आनन्द नहीं।”

निर्माण का सन्देश नहीं लाती; वह तो लाती सन्तोष भावना, जिसका कि मूल्य क्षणिक है

“यह लम्बी चौड़ी दाशनिक”

आती नहीं सन्ध्या !”

“समझ जाओगी

थी, किन्तु अनुभव

बस

कितनी

“तुम्हें समझने की चेष्टा करूँ, ऐसी धृष्टता तो नहीं करूँगी, पर क्या तुम सचमुच ही दुर्बोध्य हो सन्ध्या ?”

“इसी एक छल पर तो सबको वशीभूत करती रहती हूँ।”

“बहुत दिनों से सोचती थी कि एक दिन पूछूँगी सन्ध्या बहिन से, कि वह कभी मजूमदार साहब की बात नहीं करती हैं, सो क्यों ? लोग तो बहुत सी बातें कहते हैं, वह सब सच है क्या बहिन ?”

“बहुत सी बातें—पराई बातें करने का क्या लाभ ? हाँ, तो मुन्नी के फ्राक का डिज़ाइन तुमने दिखाया नहीं ?”

बसन्ती स्वर को कठिनता समझ न सकी। वह सोचने लगी—
“इस सर्व सम्पन्न नारी के किस स्थल पर पीड़ा हो रही है, शायद वह स्वयं भी नहीं जानती है, किन्तु कुछ है अवश्य। कहीं न कहीं कुछ.....निहित.....अनजाना कुल्लु खटक रहा है.....”

गीधर के आने का समय हो गया था। बसन्ती ने छोटे नौकर को अग्नि को कहा। सन्ध्या उठ खड़ी हुई।

चलती हूँ, तुम्हें भी अब काम है।”

तो और बैठो बहिन ! मजूमदार साहब तो आज यह कह रहे थे।”

गच्छा, थोड़ी देर और बैठ जाती हूँ।

गने को जी चाहता भी तो
अनेकों बार कही हुई

र हैं, मुझे चाय

भिड़की खाने

देने का

चाय भी नहीं है, किसी को मेरी इन्तजार चाय पीने की भी नहीं होगी ।”

कितनी विभिन्न थी मनोगति दो नारियों की । बसन्ती, रोगिणी, दुर्बल, थकी बसन्ती के लिये पति और मन्तान के लिये चाय तैयार करके देना एक भार-मात्र ही तो था, जिसे वह अनिच्छा से मानसिक परिवर्तनों के बीच बरबस खींच बसीट के ढीयें जारही थी, और दूसरी ओर थी नौकरों से घिरी हुई, ताजगी से खिली हुई सन्ध्या, जिसे किसी का भार नहीं ढोना था और जिसकी सबसे बड़ी मानसिक वेदना भार का अभाव ही बन उठा था, जो खुली थी, आजाद थी, और थी किसी भी व्यक्ति की चिन्ता से मुक्त । किन्तु मानव क्या सचमुच मुक्ति चाहता है । यदि मुक्ति की चाहना मानव के जीवन का स्वाभाविक अंश होता तो आज दिन अधिकांश मानव विश्व की क्रियाओं में लिप्त न दीख पड़ते । मानव सिर पर भार लादकर चीखता है, चिल्लाता रोता है कि उस पर भार लाद दिया गया है, किन्तु भार का अभाव भी तो उसे वैसा ही खटकता है । भार का न होना भी उसके जीवन में एक खोखला पन उत्पन्न कर देता है ।

“अब तो चाय पी कर ही जाना सन्ध्या !” तेजी से कहती हुई स्वयं उदास हो गई बसन्ती । “किन्तु हमारी चाय भला क्यों अच्छी लगेगी । यहां तो जोड़ने-जुटाने वाला मामला है, कोई जीवन-यापन करना थोड़े ही है यह ठीक-ठीक ।”

“बसन्ती ! जितना ही जो दूर है उतना ही उसकी आभा रंगीन लगती है, निकट आते ही वह रंगीनी फीकी पड़ जाती है ।”

“फिर भी उस दूर की रंगीनी का महत्व तो बढ़ा है सन्ध्या ! वही तो हमारे जीवन में हलचल मचा देती है, उसी को लेकर हम

लोगों की दिन की भुख और रात्रि की नींद खो जाती है। जीवन की अशान्ति का कारण जीवन के अभाव—वह अभाव ही तो है जिनकी दूर खड़ी हुई रंगीनियां हमें सदा ललचाती, जलाती, झुलसाती रहती हैं।” सन्ध्या हंस पड़ी।

“जाने दो, बहुत बड़ी-बड़ी दार्शनिकों की सी बातें। हमारा सीधा-सादा अपनत्व भी तो यह हममें से खो देती हैं। बसन्ती ! आज की नारी कहीं अधिक दुःखी है पुराने काल की नारी की अपेक्षा, क्यों ? इसलिये नहीं कि विधाता ने आज कल्प-कल्पान्तों के बाद कुछ नवीन दुःखों की नये सिरे से सृष्टि करके उन्हें एक बारगी आज की नारी के सिर मढ़ दिया है वरन् इसलिये कि उसने सोचना सीख लिया है, वह विचार करना जान गई है। जिस दिन वह मानना जानती थी पूछना नहीं, जिस दिन उसके पाम क्रिया थी किन्तु प्रतिक्रिया नहीं, वह दिन उसका सुख का, शान्ति का दिन था।”

“पर आज की अशान्त, जिज्ञासु, तर्कमयी नारी क्या अधिक जीवित, अधिक जाग्रत नहीं है सन्ध्या ?”

“हो सकता है हो, किन्तु उसके जीवित और जाग्रत होने का अर्थ ही क्या है ?”

“क्यों ? वह मानव नहीं है क्या ? प्रत्येक मनुष्य का जाग्रत होना ही तो उसके जीवन का सबसे बड़ा चिन्ह है।”

“हूँ, किन्तु वह चिन्ह शायद पुजारी के मूर्ख पुजारी के लगे हुये तिलक की भांति ही व्यर्थ है। वह जागृति उसे देती है भयंकर ज्वाला, व्यर्थ की मानापमान की भावना और अन्त में दुःख। बड़ा महंगा सौदा है बसन्ती।”

“पर मूढ़ रहने से दुःखी रहना क्या ज्यादा बुरा है।”

“शायद इयादा बुरा है। जिस दिन दुःख की पीड़ा की वेदना की सीमायें आवश्यकता से अधिक फैलकर मानव के स्वांग को हड़प लेना चाहती हैं, उन पर छाकर उसे मिटा देना चाहती हैं, जिस दिन दर्द हृद से गुज़र जाता है, उस दिन उसकी कटुता का महत्व जान पड़ता है बसन्ती। अभी तुम बहुत सी बातें कर गई, किन्तु यह नहीं जान पाई कि तुमने तो अभी तक दुःख से परिचय भी नहीं किया है बहिन।” बसन्ती आश्चर्य से चकित रह गई। उसकी आंखें फटी फटी सी रह गईं। सन्ध्या, अभी कुछेक क्षणों पहिले—सन्ध्या वेदना, दुःख, परिवर्तन सब ही के अस्तित्व का क्षणिक कर डाले जा रही थी और अब दुःख की व्याख्या और उसका परिचय देने चली है। क्या है यह अनब्रूम पहेली सन्ध्या। जान पड़ता है यह मन के भीतर ही भीतर किसी गहरी वेदना को छाती के नीचे दबाये विश्व-ब्रह्माण्ड में एक रस, एक गति से चली जा रही है। यही कारण है कि उसकी गति अबोध है, चाल धामी है पर एक सी है। परिवर्तनों का उस पर मानो कोई असर ही नहीं होता। बसन्ती थोड़े पकोड़े निकाल लेना चाहती थी सन्ध्या को चाय के साथ देने के लिये। कुछ भी हाँ बसन्ती को धन का अभाव तो था पर मन में तो उदारता का कमा था नहीं, फिर अतिथि का कुछ तो मान रखना ही पड़ता है। क्षणिक को चाकू ज्यों का त्यों अधकटे घिये के भीतर ही रह गया और बसन्ती सन्ध्या के मुख पर दृष्टि गड़ाकर ताकने लगी—‘दीदी’ की गुंजार से कमरे के मौन वातावरण को भरता हुआ अनिल क्षणभर में वहीं था। उसकी सहज ध्वनि से वातावरण गूँज उठा था और न जाने क्यों सन्ध्या का मुख-मण्डल भी भूमिल हो उठा, बसन्ती खिल गई। “आओ, आओ, मैं तुम्हें मन ही मन याद कर रही थी।” सहज स्वर से कहा बसन्ती ने। पर वही सहज स्वर सन्ध्या के कानों में तप्त शीशे की तरह भर उठा।

“ओह ! आप भी यहीं हैं, सचमुच ही आज किसी भाग्यवान का मुख देखकर उठा था ।”

“सच ही आज तो हमारे यहां भी रौनक हुई”—बसन्ती बोल रही थी, पर सन्ध्या मानो अपने आप से मानसिक युद्ध कर रही थी—
“जीजी क्या बना रही थी ? अब खूब यत्न से बनाकर मुझे खिला दो । जीजा जी तो आज नौ बजे से पहिले घर पहुँचेंगे नहीं । किसी एक क्रान्तिकारी की खोज में गये हैं ।” इस बार सन्ध्या ने मुख उठाया, स्थिर दृष्टि से एक मिनिट अनिल की ओर देखा और फिर उठ खड़ी हुई ।

“अरे चल दीं सन्ध्या बहिन ! चाय तो पी कर ही जाओ, लो पानी उबल गया होगा, दो चार पकोड़े निकाले लेती हूँ ।”

“नहीं, सो अब इन्हीं को खिलाओ, मुझे अब और सुविधा न होगी ।” स्वर कुछ रूखा, तप और जलता-सा था । सन्ध्या चली गई रूआमी-सी । बसन्ती अनिल की ओर देख कर बोली—“मैं तो घबरा गई थी तुम्हें देखकर । उनके आने का समय है ना ?”

“सो क्या मैं कुछ कच्ची गोलियों से खेलता हूँ जीजी । जीजा जी का प्रोग्राम पता करके ही आता हूँ ।”

“देखो अनिल, अब तुम्हें उनसे भी परिचय कर ही लेना चाहिये ?” “सो किसी दिन करूंगा, आज कुछ खाने को दो जीजी, बड़ा भूखा हूँ ।” बसन्ती उठते उठते बोली—“यह सन्ध्या न जाने क्या है, अभी राजी-खुशी बैठी थी, एकदम बिना चाय पिये हुये चल दी । मैंने तो भाई कुछ कहा भी नहीं ।”

“जाने दे जीजी, इन बातों की चिन्ता नहीं किया करते विश्व में, और कम हलचले हैं सोचने, विचारने को ।” पर अनिल का भीतर-बाहर स्वयं ही मथा जा रहा था । सन्ध्या क्यों चली गई यूँ

उदासीन बन कर—यह अनिल के अतिरिक्त और जान सकता भी कौन था ।

पिक-निक

:: १४ ::

आस पास के भरे-भरे घने से वातावरण से मानो अपनी एकाकी आत्मा को कुछ ऊपर उठाते हुये सन्ध्या ने आकाश में फैली हुई अपनी दृष्टि सिकोड़ ली, उसकी गरदन के चारों-ओर लिपटी हुई उन्नाबी रंग की बंगलौरी साड़ी की सुनहली किनारी खिसक कर कुछ नीचे आ रही थी । “सन्ध्या ! इस मधुर बेला में सचमुच ही तुम्हारा गीत सुनने को जो चाहता है ।”

“हूँ” कह कर सन्ध्या ने ढालना चाहा पर तकाज़ा प्रबल था, फिर भी सन्ध्या चुप ही रही । गति हाल ही में प्रान्त में आई थी, चुलबुली, चंचल और फुर्तीली । किसी का मज़ाक बना ढालना तो उसके लिये साधारण बात थी । सन्ध्या को कन्धे पर छू कर गति ने कहा—“गा क्यों नहीं देती ?”

“इच्छा नहीं होती ।”

“तब पिकनिक पर आई थीं क्यों ?” बहुत ही धीमे स्वर में गति ने कहा । सन्ध्या ने कोई उत्तर नहीं दिया ।

सन्ध्या अपने कुछेक मित्रों के साथ आज जल-विहार करने आई थी। यूँ तो योगेश को भी आना पड़ा था किन्तु शीघ्र ही वह वापिस लौट गया, उसे कुछ आवश्यक काम था और उसके आवश्यक कार्य की सूचना मिल जाने पर भी सन्ध्या अपना कार्यक्रम बदल नहीं सकती थी, उसने अपने कुछेक मित्रों को आज निमन्त्रित जो किया हुआ था। इन्हीं में से प्रान्त के उदीयमान नवयुवक कवि अमिय भी थे। आज उनकी कवितायें विशेषरूप से जल की छाती पर, उसे चोरती हुई चलने वाली नौकाओं में बैठकर सुनने का प्रबन्ध था। कुछेक दिनों से सन्ध्या अकारण ही अमिय जी की ओर खिंचती सी दीखती थी। पुराने मित्र खिल्लियां उड़ाते, नये इच्छुक मित्र तरसते रह जाते किन्तु अमिय ज्यों के त्यों बने हुये थे। उन्ही अमिय जी के आदेश..... प्रेरणा पर भी सन्ध्या का मुख खुला नहीं, तो वातिल, गति, रश्मि, सान्याल आदि सब आश्चर्यचकित से रह गये।

गति ने स्वयं ही एक गीत गाना आरम्भ कर दिया। गति के स्वर में गति है, गान में मधुर ध्वनि, किन्तु सन्ध्या के गले का सा लोच नहीं है, यह सब लोग शीघ्र ही जान गये। गीत समाप्त हो गया— अमिय जी गीत की अन्तिम पंक्ति को धीरे-धीरे दोहराने लगे।

“क्यों घनी सी शाम आखिर हो गई।”

“लो कवि महाराज को तो कविता का सामान मिल गया।”

“कविता की सामग्री की कमी शायद विश्व में कभी भी नहीं थी।” कहा इस बार सन्ध्या ने। इसी बीच दौड़कर गति ने नौकरों को खाना तैयार करने का आदेश दिया और कुछ देर के लिये नौका से सब ही लोग उतर पड़े। वातिल, रश्मि को लेकर बगीचे में एक ओर घूमने लगा। सान्याल और अमिय दोनों ही गति के साथ के इच्छुक थे। पर चंचला गति गिलहरी की तरह फुदकती हुई

बनमाली के साथ दौड़ गई, नदी के दक्षिण किनारे के साथ साथ। सन्ध्या चुपचाप सूर्य की किरणों के नदी के जल में पड़ते हुये प्रतिबिम्ब को पी रही थी, नदी के किनारे के एक चौड़े से पत्थर पर बैठी हुई। आसपास का वातावरण शान्त था। गीत.....गति के गीत के शब्द अभी तक वायुमण्डल में अदृश्य गति से दौड़ रहे थे।

“जिन्दगी की शाम आखिर हो गई,
क्यों गति अविराम सी हो रह गई।”

कभी कभी सुनसान में नौकरों की हल्की आतचीत की ध्वनि अथवा दूर कामकाज होने वाले स्थान पर से आने वाली वर्तनों की झन्कार निस्तब्धता को खो देती थी। अमिय जी भी चले गये थे। सन्ध्या अकेली थी किन्तु कहाँ? अमिय जी तो लौट पड़े। इस समय सन्ध्या को आँखें शायद गीली रही हों, वह उन्हीं पंक्तियों को सस्वर दोहरा रही थी।

“बड़ा सुन्दर स्वर पाया है सन्ध्या !” अमिय जी ने प्रशंसा के भाव से कहा।

“किन्तु आप में कुछ खटकने वाला अभाव तो है नहीं, फिर यह प्रशंसा क्यों ?” विचित्र प्रश्न था, अचकचा गये कविवर।

“क्यूँ सन्ध्या, क्या अभाव हुये बिना प्रशंसा की भावना आती ही नहीं।”

“नहीं।” सन्ध्या ने दृढ़ भाव से प्रश्न को दोनों हाथों से ढकेल कर बन्द करते हुये सा उत्तर दिया—किन्तु अमिय जी को तो बात करनी ही थी सन्ध्या से। वह.....वह शायद उनकी ओर.....नहीं, अमिय जो वह बात तो एकान्त में ही सोचा करते हैं। “यह पहेली मेरी तो समझ में आई नहीं ?”

“न आये सो ही अच्छा । इसे जो समझ पाता है वह क्या कभी सुखी रह सकता है ।”

“फिर भी यह कैसे हो सकता है कि मनुष्य केवल उसी की प्रशंसा करे जिसका कि उसे अभाव हो ।”—हट पूर्वक वाद-विवाद में बरबस सन्ध्या को खींच लाने के से भाव से कहा कवि ने । सन्ध्या की इच्छा बोलने-चालने की शायद नहीं थी, किन्तु फिर भी उत्तर तो देना था ही ।

“जीवन में बहुत से प्रशंसक रोज ही मिलते हैं, कवि महाराज ! कोई कहता है तुम अत्यन्त सुन्दरी हो, सो क्यों ? इसलिये ना कि वे सुन्दरता से परे हैं । सौन्दर्य उसके वश के बाहर की वस्तु है, इसी-लिये तो उसका सौन्दर्य पर इतना घना प्रलोभन है । यदि वह स्वयं ही सौन्दर्य सरिता में गले गले डूबा खड़ा होता तो क्या उसे सौन्दर्य आकर्षक अथवा प्रशंसनीय दीख पड़ता । कोई कहता है तुम्हारा स्वर बढ़ा मीठा है इसलिये ना कि उसका स्वर मीठा है नहीं । मनुष्य वास्तव में स्वभाव से ही उसके पीछे दौड़ता है जो उससे परे है, उसकी शक्ति से बाहर है और मानव की सत्ता की छाप, उसका निजत्व का पंजा उस वस्तु पर पूरी तरह से पड़ा नहीं है—पड़ पाया नहीं है, पड़ने का कोई सम्भव या असम्भव उपाय भी नहीं है, तब ही तो लाचारी से, विवशता से वह उस वस्तु का प्रधानत्व स्वीकार कर लेता है और यह प्रधानत्व स्वीकार करना उसकी सबसे करुण दीनता है, जिसे वह प्रशंसा के धूँधट में छिपा कर जीना चाहता है ।”

सन्ध्या इस प्रकार कह रही थी मानो स्वयं अपने आप से बातें कर रही हो । और पत्थर के बड़े टुकड़े पर दाहिना पांव और उसके घुँटने पर कोहनी रखे, कोहनी से सम्बन्धित हथेली पर ठोड़ी टिकाये,

कविवर अमिय जी उसकी विचित्र मानसिक विश्लेषण की प्रणाली पर विचार कर रहे थे। विचित्र है विचार धारा, किन्तु इसे असत्य, एक-बारगी झूठ कहा जा सके, यह भी सम्भव नहीं है।

“क्या एक गवईया दूसरे गाने वाले की प्रशंसा नहीं करता सन्ध्या ! क्या एक सुन्दर व्यक्ति दूसरे सुन्दर व्यक्ति की प्रशंसा नहीं कर पाता ?” पूछा कवि ने।

“नहीं, जहाँ कहीं भी करना चाहता है वहाँ केवल मात्र ढोंग ही करता है, पाखण्ड करता है। मन ही मन कदता जाता है, दोहराता जाता है कि मैं महान हूँ, मेरा इस दिशा में महत्व इससे अधिक है और ऊपर से दूसरे व्यक्ति के गुण महत्व को केवल मात्र शब्दों में ढाँट कर बिखराता जाता है। यही तो सबसे बड़ी मानव की मानव के प्रति सम्मान की विडम्बना है।”

“तुम्हारे तत्व ज्ञान से तो विश्व की समस्त कोमल मानव-भावनायें नष्ट हो जायेंगी।”

“उससे क्या ? सत्य की प्रतिष्ठा तो होगी।”

“किन्तु सत्य की प्रतिष्ठा कर रही हो या यह क्या तुम्हारा मिथ्या अभिमान नहीं है ?”

“सो ही तो, किन्तु मैं तो अभिमान से भर जाना चाहती हूँ और यदि सच पूछो तो मेरे जीवन के चारों ओर खिंची हुई अनेकानेक जीवित रेखायें सिवाय मिथ्याअभिमान के और हैं भी क्या ? मनुष्य की आंखों में दर्द की वेदना के आंसू भर जाते हैं फिर भी वह मुंह उठाकर ऊँचे स्वर में कठोर वाणी कटुलय स्वर में कहना चाहता है, कहने का प्रयत्न करता है कि मैं तुम्हें नष्ट कर डालूँगा, मैं तुम्हें कुचल डालूँगा। यह उसका मिथ्याअभिमान तो है ही। होठों पर प्यास से जब पपड़ियाँ

जमने लगती हैं, तब भी अभिमान के मारे मनुष्य यही कहता रहता है कि कहां, मुझे तो कोई प्यास नहीं है। दीनता पूर्वक दूसरे व्यक्ति के सम्मुख पल्ला फैला कर के जब हृदय के दिवालिये पन की दरखास्त देने का समय ठीक मिर पर खड़ा होता है, तब भी मनुष्य अपने हृदय की दुहाई देकर कहना चाहता है कि मुझे किसी की आवश्यकता है नहीं, यह सब क्या है ? मिथ्याभिमान ही तो ।”

“फिर भी विश्व में जीवित रहने के लिये इससे एकबारगी छुटकारा तो प्राप्त किया जा सकता है नहीं ।”

“सो ही तो । मनुष्य नंगा ही पैदा हुआ था, और मरेगा भी नग्न ही, फिर भी विश्व में अपने क्षणिक यापन काल में वह ढेर सारे कृत्तिम आवरणों के नीचे दब जाना चाहता है । यही तो उसकी सबसे बड़ी कमजोरी है, यही तो उसका सर्वाधिक भयंकर रवयं अपने साथ ही किया जाने वाला अपना धोखा है ।”

अमिय जी को विचार सामग्री काफ़ी मिल गई थी, पर उन्हें विचार करना तो था ही नहीं । अब वह उसी पत्थर पर सन्ध्या से सट कर बैठ गये । सन्ध्या हिली नहीं, पूर्ववत् पत्थर की प्रतिमा की भांति बैठी रही । अमिय ने सन्ध्या का हाथ अपने हाथों में लेकर कहा—“सन्ध्या रानी ! तुम आज कुछ उत्तेजित लगती हो, सन्ध्या को शान्त होना चाहिये ।”

“हां, पर उसे उत्तेजित होना अथवा न होना कुछ महत्वपूर्ण नहीं जंचता ।” निर्भय, निर्लेप, उदासीन भाव से सन्ध्या कह गई, मानो वह किसी दूसरे व्यक्ति के जीवन पर अपनी सम्मति दे रही हो ।

“जान पड़ता है तुम्हारे जीवन में कहीं कोई अस्थिर विराम सा आन पड़ा है, सन्ध्या रानी ! वही तुम्हारे बुद्धिवादी व्यक्तित्व को

मथकर उसमें से बहुत सी मौलिक बातें निकलवा पाता है। किन्तु उस विराम की गति कितनी और कहां तक है, सो ही जान पड़ता नहीं।”

सन्ध्या ने हाथ खींचा नहीं और बड़ी जोर से खिलखिला कर हंस पड़ी। बड़ी ही करुण, बड़ी ही फटी फटी सी थी वह हंसी।

“अमिय जी मेरे जीवन के विराम और उस पर आश्रित विश्लेषण की चिन्ता आपको हुई क्यों?”

अमिय जी कठोर व्यंग समझ पाये नहीं, शायद जान बूझकर उन्होंने समझना भी नहीं चाहा।

मैं सचमुच ही सन्ध्या जी, सच ही मैं सन्ध्या जी.....”
सन्ध्या शायद ऊब गई थी।

“देखिये अमिय जी, जीवन में बहुत से भार, इच्छा अथवा अनिच्छा, स्वतन्त्रता अथवा बन्धनों की सृष्टि करके दोती आरही हूँ। कई बार तो मेरी मूर्खता से भी मुझ पर लड़ जाते हैं। किन्तु अधिकतर तो बरबस ही लड़ गये हैं और शायद इसलिये भी कि उन्हें उतार फेंकने की मेरी इच्छा नहीं थी, अथवा मैं भी उन्हें उलझाये और उनमें स्वयं उलझी रहना चाहती थीं, किन्तु अब खेल समाप्त कर देना चाहती हूँ। आँख मिचौनी में मैं सदा ही चार बनती रहना नहीं चाहती, यह तो खेल हुआ नहीं। अब मुझे मुक्ति दीजिये। व्यर्थ मैं ही आपका दिया हुआ भार और अब संभाल सकूंगी नहीं।”

अवाक् रह गये अमिय जी। वैसी है यह नारी.....विश्वभर की समस्त सम्पदा इसके चरणों पर लोटती है, और उसे वह सभी कुछ क्षण भर में भार स्वरूप जान पड़ने लगा है। स्वयं सन्ध्या ने अपनी इच्छा से, बड़े चाव से तैयारी की थी इस पिकनिक की, बड़े चाव से सुबह मधुर गीत ध्वनि के साथ उसने अपनी कार चलायी थी।

गतिमयी माया की भांति वह स्वयं प्रातः से विश्वलिप्ता बनकर विश्व को सृष्टि कर रही थी, किन्तु दोपहर तक वह महल गिर गिराकर रुएडहर कैमै बन गया, सो ही अमिय जी की समझ में आया नहीं। यह लिप्ता है अथवा अलिप्ता, कवि समझ पाया नहीं—“मधुर स्नेह भी क्या भार होता है रानी ?”

“स्नेह ? बस, काफी हो लिया। कविदर ! तुम कल्पना जगत में स्नेह करो, काव्य की सृष्टि करो। विश्वभर के प्राणी उन्हें पढ़कर उनके वास्तविक अभाव का अनुभव करके तुम्हारी प्रशंसा से पृथ्वी, आकाश एक कर दें, बस, यही काफी है। स्नेह की व्याख्या तुम्हारे लिये नहीं है।”

दौड़ती हुई गति चिल्लाती आरही थी—“देख सन्ध्या ! मैंने क्या कर डाला.....अरी देख तो सही.....” गति पास आ गई थी, उसके हाथ में एक मरा हुआ साँप लटक रहा था।

“ठीक, ठीक तू यह ठीक ही कर सकी गति। गति हांते हुये भी आज तूने इसे निर्गति कर दिया है। यही ना ?”

गति कुछ भी न समझी, पर उसे समझने की फुरसत भी नहीं थी। सान्याल उसके हाथ से सर्प लेकर सर्प की मृत्यु की लम्बी चौड़ी मनोरंजक कथा आरम्भ करने लगा। इसी समय सन्ध्या उठकर शायद नौकरों का काम काज देखने उस ओर चली गई। गति ने देखकर आंखें फेर ली, वातिल की ओर।

अमिय ने वेदना पीड़ित से स्वर में पूछा वातिल से—“क्यों जी सब कोई उन्हें सन्ध्या क्यों कहते हैं ? कोई भी तो मिसिज मजूमदार नहीं कहता, सो क्यों ?”

एक दिन मैंने सन्ध्या से यही पूछा था, वह कहती हैं “मेरा

अपना व्यक्तित्व सन्ध्या के रूप में मिश्रित मजूमदार या मजूमदार की पत्नी के रूप में खड़े व्यक्तित्व से कुछ कम है क्या ?' स्वर की गम्भीरता कुछ ऐसी थी कि फिर कभी मैं वैसा प्रश्न कर पाया ही नहीं ।”

कवि सोच रहा था, “विचित्र है यह रमणी.....लोग कहते हैं, यह सोसायटी गर्ल है.....पश्चिमीय सभ्यता के आदर्श की पुतली है, पंचायती वस्तु है, किन्तु कितना भिन्न है इसका भीतरी व्यक्तित्व । साधारण नारी की तरह हाथ पकड़ लेने या छू लेने पर वह रोती चिल्लाती या घबराती नहीं है, स्थिर पत्थर की प्रतिमा सी मानो विश्व भावनाओं से परे खड़ी हुई हो । कैसी है यह नारी ? क्या यह खेलने की वस्तु है अथवा डरने की ? पर जो हो है तो यह नारी ही ।”

सन्ध्या उधर से लौट आई थी, और दीख भी दूसरा ही व्यक्तित्व रहा था । इस बार वह अकारण ही सान्याल के साथ हंसती हुई सी आरहो थी । पास पहुँचकर सन्ध्या ने कहा—“सान्याल अभिय को किसी दिन फुरसत में मेरा व्यक्तित्व समझा देना, बेचारे बड़े ही परेशान हैं मुझे जानने को ।” कवि अप्रतिभ हो उठा ।

“मैं खुद ही क्या किसी दिन तुम्हें जान पाया हूँ सन्ध्या ?”

“पर मैं तो पहली हूँ नहीं । मैं तो स्पष्ट, साफ, सीधी, खुली रेखा सी हूँ ।”

“और वही तो तुम्हारा सबसे बड़ा रहस्य है । कहीं भिन्न नहीं, कहीं रोक नहीं, कहीं अन्त नहीं । इसीलिये तो इवारत पड़ी जाती नहीं ।”

“तब जाने दो, पढ़ पाना ही क्या कोई इतना अधिक आवश्यक हो उठा है ?”

सन्ध्या अपनी सदा की सी हंस गति से फूलों से भरे कुंज की ओर चल दी । गति वहीं बैठी, फूल चुन चुन कर पिरो रही थी ।

“जीती जागती माया है, पूरी, पूरी मायाविनी । इसके चक्कर में न पड़ना कविवर !”—सान्याल ने कहा ।

“न जाने इसके चक्कर में कितने पड़े, इसमें टकराये और चकनाचूर हुये और फिर भी अलग हटकर एक किनारे न हो सके, जब कि यह स्थिर है, उसी तरह बिना टूटे फूटे ।”

“यही तो उसका महत्व है,” कहा कवि ने ।

“किन्तु यह महत्व ही कहीं किसी दिन काल न बन बैठे, यह देख लेना ।”—सान्याल बोला ।

और वातिल ने पूरा किया वाक्य, यह कहकर “कि यही तो आज योगेश अनुभव कर रहा है । फिर भी कोई उससे एकबार टकराकर किनारे लग नहीं पाता ।”

“आज की पिकनिक.....”

अमिय जी के अधूरे वाक्य को पूरा किया रश्मि ने—“खूब रही है ना, अमिय जी !” और हंस पड़ी । अमिय जी का मुख मण्डल धूमिल हो उठा ।

लपटें

:: १५ ::

“यह अब ठीक है, अनिल तुम इतने व्याकुल क्यों हो उठे ?”

“सो तुम आज न समझ सकोगी सन्ध्या ।”

“समझाने पर भी नहीं ।”

“समझाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी ।”

“हूं,” कहकर सन्ध्या शान्त होने की चेष्टा करने लगी, किन्तु उसी प्रयत्न में उसका सर्वाङ्ग कांप उठा । अनिल ने शायद देखकर भी न देखा, अथवा देखने की उसकी इच्छा ही नहीं रही हो । किन्तु सन्ध्या भीतर ही भीतर जल उठी थी । वातावरण शान्त था । इसी समय नर्स ने भीतर आकर इन्जेक्शन दिया ।

“यह बच जायेगी नर्स ?” व्याकुलता अनिल के स्वर से टपक रही थी । नर्स की शायद ऐसे स्वर सुनने की आदत थी, उसने शान्ति से उत्तर दिया । “केश तो बहुत अच्छा नहीं है, फिर भी उम्मीद तो है ।” पलंग पर पड़ा हुआ मानव शरीर हिलने डुलने से परे था ।

“मैं जाऊं ?” सन्ध्या ने कहा ।

“हां, अब तुम्हें जाना ही चाहिये । मजूमदार साहब प्रतीक्षा करते होंगे ।”

शायद अनिल जानबूझ कर सन्ध्या पर चोट करना चाहता

था, सन्ध्या शायद उसके लिये तैयार न थी, कड़वे स्वर में बोली—

“सो ही तो ।” और तुरन्त बाहर चली गई ।

अनिल जाती हुई सन्ध्या की ओर एकटक देखता रहा । सन्ध्या गई नहीं, कुछ ही मिनटों में लौट आई । इस बार उसका मुख लाल था, और होठ फड़क रहे थे ।

“अनिल तुम कुछ भी क्यों न हो, मेरा अपमान कर सको, यह अधिकार तुम्हें किसी ने कभी भी नहीं दिया है, यह समझ रखना ।

“सो मैं समझता हूँ, इसीलिये इच्छा और आवश्यकता दोनों ही होने पर तुम्हें रोक न सका सन्ध्या !”

सन्ध्या के क्रोध पर शीतल जल पड़ गया, फिर भी उसने भरी आँखों से कहा—“वह अधिकार तो एक दिन तुमने इसी कठोरता से ठुकराया था ।”

“इसीलिये आज उस अधिकार को पाने की बरबस अनाधिकार चेष्टा करने की प्रवृत्ति भी तो मेरी होती नहीं है ।”

अनिल कहता ही गया—“देखो सन्ध्या ! तुम इस समय ईर्ष्या से जली जारही हो । यूँ तो मैं यह कहूँ, ऐसा अधिकार भी मेरा नहीं है, किन्तु जिस स्थान पर खड़े होकर अधिकार और अनाधिकार की मीमांसा हो चुक जाती है, वहीं खड़े होकर मैं कह रहा हूँ कि तुम कहीं भूल कर रही हो । एक दिन जो कुछ पाने के लिये तुम बाबली होरही थी, उसी को यह रमणी, यह दुबली पतली साधारण रमणी अपने चरणों के निकट पड़ा पाकर भी साधारणतया खिसका देती है । उस खिसकाने में द्वेष नहीं होता, लाचारी भी नहीं होती, और न होती है बेबसी से भरी हुई ठण्डी सांस । यही तो भेद है तुममें और इसमें । तुम्हारी बात मैंने एक दिन इससे कही थी, और इसने मुस्करा कर कहा था, ‘भाई अनिल, विधाता ने जो तुम्हें सहज ही प्राप्त कर

दिया था, उसे परे हटाकर तुमने कुछ भला नहीं किया ।”

सन्ध्या की शीतलता फिर ज्वालामयी बन उठी थी । सन्ध्या ने अपने भागों की अभिव्यक्ति सीखी थी, उनका संयमन नहीं ।

“देखो अनिल, एक दिन मैंने जीवन में भूल अवश्य की थी, बहुत भयंकर भूल और देखती हूँ जीवन भर वह भूल मेरे जीवन में एक भयंकर अभिशाप बनकर चमकती रहेगी, किन्तु इस भूल को लेकर किसी के साथ अपनी तुलनात्मक आलोचना की जाना मुझे पसन्द नहीं है ।”

अनिल ने उदासी भरी दृष्टि खिड़की से बाहर फेंकी, बाग में दो कबूतर शायद लड़ रहे थे । पर फड़फड़ा कर एक दूसरे पर हमला करने जा रहे थे । इसी बीच बिल्ली ने उनमें से एक को दबोच लिया, और दूसरा फुर से उड़ गया किसी माया ममता के बिना, एक बूढ़ भी आंसू बिना डाले हुये, बिना एक क्षण भी दुःख भरा बिताये हुये । शायद भयभीत होकर अनिल ने दृष्टि मोड़कर फिर सन्ध्या की ओर देखा । खिड़की से भीतर पड़ने वाली सन्ध्याका नीन सूर्य के सुनहली किरणें सन्ध्या की चम्पई साड़ी से लिपट कर उसके दूर तक खुले हुये गले को चुम रही थी ।

“जाने दो सन्ध्या, इन्हीं कबूतरों की भांति किसी दिन किसी का प्रबल पंजा हमें तुम्हें भी ग्रस लेगा ।”

“ओह, इतने निराशावादी कब से बने ? इस स्त्री के साथ होने वाली दुर्घटना देखकर ही ।” स्वर में जलन थी ।

“सन्ध्या, जिस दिन तुम भाभी का मूल्य पहिचानोगी, शायद उसी दिन ही तुम्हें यथार्थ में नारी का मूल्य पता चलेगा ।”

“सो किसी दिन अवश्य करूंगी, अच्छा ।” एक कठोर सी

कटु नमस्कार करके सन्ध्या चली गई, इस बार लौटी नहीं। अनिल एक टक भाभी की ओर देख रहा था, और भाभी एक प्राइवेट नर्सिंग होम के एक नीचे की मंजिल के कमरे में आद्योपान्त पट्टियों से जकड़ी हुई पड़ी थी। वह अचेत नारी शरीर क्या था, सो ही तो अनिल सोच रहा था। इसी समय द्वार पर एक सधे हुये हाथ से की गई ठक ठक की आवाज चार बार आई, अनिल ने द्वार खोल दिया।

“फरार।”

“हूँ।”

“शेष ?”

उत्तर में अनिल ने पट्टियों से आवृत नारी शरीर की ओर हाथ उठा दिया।

“कैसे ?”

“मजूमदार साहब की आज्ञा से गोली चला दी गई। भाभी को तो तुम जानते ही हो, हर कहीं आगे रहती हैं। जमादारिन के वेष में घूम घूमकर यथासम्भव मजदूरों को संगठित कर रही थी, और जब तक शरीर छिद न गया गिरी नहीं।”

“गिरते समय सुना, कह रही थी—‘यही तो मैं चाहती थी।’ अच्छा, फिर आगे क्या हुआ ?”

“आगे की कहानी तो संक्षिप्त सी ही है। आगे इनकी गठरी बांधकर नदी में लकड़ी के सहारे तैरा तैराकर यहां तक लाई गई, और यहां मिसिज मजूमदार की कृपा से इस हस्पताल में यथासम्भव सुरक्षित हैं, इलाज हो रहा है।”

“यही पुरस्कार है ना देश पर मिटने का।”

“भावुक न बनो किरण बाबू।”

“भावुकता की बात कहां कह रहा हूँ भैया, जहां गया था वहां गांव के गांव खड़ी फसलों सहित जलाये जा रहे हैं। जनता मूक पशुभाव से दोनों आंखें अधिकारियों के मुख पर जमाये, वही सब कुछ दीनता पूर्वक ग्रहण कर रही है, और फिर जब कभी कोई दीनता से जान बूझकर लादी हुई कायरता से ऊब कर कह उठता है, महाराज हमें मार डालो, काट डालो, यूँ तिल तिल करके भूखों मारने का साधन तो न करो, तो उसे गर्दन पकड़ कर झुकझोर कर यह जतला दिया जाता है कि यह विदेशी शासन है। यही है न देश के विषय में सोचने विचारने का फल।”

किरणकुमार उत्तेजित हो उठा था। उसका छोटा सा सांवला मुख क्रोध से अधिक काला पड़ गया था।

“जहां मजूमदार है, वहां मिसिज मजूमदार भी तो हैं। किरण ! व्यर्थ ही उत्तेजित न हो।”

‘ हो सकता है, आपके लिये मिसिज मजूमदार का बहुत बड़ा महत्व हो, किन्तु मेरे लिये तो यह धनिकों का चुग्गा डालना ही है। वह गरीबों को फसाने का कोई न कोई उपाय तो जुटा देते ही हैं। और फिर उद्धार का मार्ग भी आसानी से दिखा पाते हैं, क्यों कि वह कठिनाई भी तो उनकी ही बनाई हुई होती है। उन्हें तो मान भी मिलता है यश भी, पृथ्वी पर दीनों का आशीर्वाद और मरने के बाद स्वर्ग। आप यदि हाथ उठाकर उन्हें आशीर्वाद देना चाहें तो भले ही दें, मैं तो उनकी हर प्रकार की सेवा ग्रहण करके भी, उन्हें भयंकर शाप ही दे पाता हूँ।”

मन ही मन अनिल कांप उठा। जिसे एक दिन सम्पूर्ण रूप से त्याग चुका है, उसके लिये भीषण अभिशाप सुनकर क्यों कांप उठा

अनिल ? उसका जी चाहा कि एकबार चिल्लाकर कह उठे—“जी चाहे तो विश्वभर को अपने शाप में डुबो देना, किन्तु सन्ध्या.....नहीं, नहीं, सन्ध्या को तो उबार ही देना, परे ही रहने देना, पर नहीं सन्ध्या मेरी नहीं, वह मेरी कभी भी नहीं थी.....”

आज अनिल का कठोर हृदय पिघल उठा था, हृदय की कठोरता रो उठी थी, अनिल की आंखें छलछला उठी। इसी समय अचानक अनिल उठ खड़ा हुआ। “किरण..... संकेत हो रहा है। मैं चला, तू भाभी के पास रह। यहां तुझे कोई पहिचानता नहीं, पूछने पर जो इच्छा हो कह देना, कह देना मेरी दूर की रिश्ते की भाभी है देख, देख जान पड़ता है कोई जान गया।” एक क्षण में एक छलांग लगाकर अनिल खिड़की से बाहर था। बाहर अन्धकार में भाँककर किरण मन ही मन कहने लगा—“देवता ! तुम चालीस कोटि भारतवासियों के स्वतन्त्रता के लिये बिना स्थान देखे उसी प्रकार युग युग तक अन्धकार में कूदते रहो, और वह कृतघ्न तुम्हारे अन्धकार भरे मार्ग में जब तब काटों की सृष्टि करते जायें, यही सृष्टि नियन्ता का न्याय है क्या ?” द्वार पर कुण्डी खड़क रही थी। किरण ने पहिले भाभी के मुख को चारों ओर से कुछ कुछ ढक दिया, और फिर उठ कर द्वार खोल दिया। सामने खड़े थे श्रीयुत योगेश मजुमदार डी० एस० पी०। किरण ने एक तीव्र दृष्टि डाली और शायद योगेश ने भी किरण को वैसी ही दृष्टि से देखा।

स्नेह

:: १६ ::

“देखो हम भी तो पति पत्नी हैं, परस्पर कुछ सम्बन्ध है।”

“कोई एक धुंधली सी, मिटती सी, छुपती सी, याद सी जरूर है, वह कैसी है ? और क्या है ? यह तो जान नहीं पड़ता, पर वह है जरूर।” हल्के से स्वर में योगेश ने कहा।

“और शायद उस धुंधली सी, छुपती सी, मिटती सी याद को बिल्कुल ही गला डालना तुम्हारा मुख्य उद्देश्य है।” कहा वकील साहब ने।

“नहीं, नहीं, यह बात नहीं है, फिर भी यह तो स्पष्ट सा ही जान पड़ा है कि स्नेह जैसी वस्तु संसार में कोई है नहीं।” कहा फिर योगेश ने ही।

“और यह भी तो हो सकता है कि प्रेम का अस्तित्व हो, किन्तु आपको उसका अनुभव किसी दिन भी न हुआ हो।” इसबार बड़ी दिलचस्पी से कुछ आगे की ओर झुककर कहा, उर्मि चौधरी ने। मिसिज चौधरी इस क्लब की एक युग से सदस्या हैं। उस समय भी उनका क्लब एक दिन नहीं छूटता था जब यह हल्की फुल्की सी मिस राय थी, और आज तो भारी भरकम दो सन्तानों की जननी, मिसिज चौधरी का कहना ही क्या है।

“हां, यह भी सम्भव है।” कुछ हामी सी भरते हुये कहा

योगेश ने । योगेश के होठों की सिकुड़न मानो सारे विश्व को एक क्षण भर में तुच्छ कर डालना चाहती थी । मनुष्य क्रोध के प्रथम उबाल में जलता है, दूसरे में तड़फता है, तीसरे में झुंझलाता है और चौथे में शायद आंख मूंदकर निश्वासों के साथ खेलता हुआ शान्त हो रहता है । यही अवस्था योगेश की भी थी । उसने प्रेम, स्नेह, आनन्द और अपनत्व पाने के लिये सैकड़ों खेल किये थे । उन खेलों में तपिश थी, उष्णता थी, वह जलन थी जिससे मनुष्य घबराता नहीं वरन् जिसे वह प्यार करता है, जिससे जलता हुआ भी उससे दूर भाग नहीं पाता, दीपक की लौ पर पतंगा भस्म हो जाता है, फिर भी दीपक से परे दृष्ट नहीं पाता । लेकिन अन्त में योगेश घबरा गया । खेल बहुत लम्बा हो उठा था, उसका आदि रहा था और न अन्त । इस अनादि अनन्त खेल से वह ऊब चुका था । एक दिन पिता ने अपनी इच्छा से चुनी हुई लड़की का पल्ला योगेश के पल्ले से बांधकर कहा था । “योगेश ! तेरे इस जन्म के खेल का स्थायी साथी मिल गया,” और उस दिन योगेश चिढ़ उठा था । इतनी जल्दी खेल का अन्त होगया, वह खेलना चाहता था देर तक, खूब देर तक, जब तक कि वह मन-प्राण से थककर चूर न हो जाये, किन्तु इतनी जल्दी ही सब कुछ समाप्त होगया, यह कहां का न्याय है । यह सब कुछ उसे पसन्द न था, किन्तु आज तो दृश्य हो बदल चुका था । उसने परीक्षा की, क्लब की साथिनों की उस जीवन साथिन को ठुकराकर । उसे अभी खेल खेलना था, फिर भला वह अन्त की साधना क्यों कर स्वीकार कर लेता । पर.....पर फिर सन्ध्या.....योगेश को आशा थी कि सन्ध्या उसे निरन्तर तपिस देगी, उष्णता देगी, गति देगी, उस गति में कभी भी रुकावट होगी नहीं । वह अबाध गति किन्तु कहां ? कहां रह गई वह गति.....गति की धारा तो मानो मिटने सी लगी है । फिर

आज क्या योगेश नया खेल आरम्भ करेगा ? योगेश के कह चुकने के बाद अच्छा भला सन्नाटा सा छा गया। क्रिया गज्जन को लगा कि उसका घना अपमान हो गया है। उसने शान्त से स्वर में कहा—“जिन्हें अनेकों सुमनों के ठोक बीचो-बीच पड़ा रहने पर भी कमल दीख नहीं पड़ता है, शायद देखकर भी जो चुन नहीं पाते, शायद चुनकर भी जो उसे मन-प्राण से ग्रहण नहीं कर पाते, उनके लिये क्या कहा जाये।” मिस गज्जन पहली मिसिज योगेश की सहेली समझी जाती थी। अब भी जब तब योगेश पर व्यंग करने से चूकती न थी। योगेश भी सदा ही उत्साह से उत्तर दिया करता था, पर आज न जाने क्यों उसका उत्साह बुझा सा था।

“सो उसका दुर्भाग्य।”

व्यंग तो सबकी ठीक ठीक समझ में आगया था, किन्तु जिसके जीवन को लेकर इतना बड़ा व्यंग किया गया था, वह नितान्त उदासीन भाव से उसका भाव्य कर रहा था।

मिसिज चौधरी ने सहानुभूति पूर्ण स्वर से कहा—“दाया, कि ज्यादाती है क्रिया। पुरुष भूले चूके यदि कुछ कभी कठोर हों भी जावे तो क्या स्त्री घर छोड़कर भाग जावे।” वकील साहब चुप न रह सके, यूँ भी मिसिज चौधरी से उनका हंसी-मजाक का रिश्ता था। भला मिसिज चौधरी लगती थी उनकी भाभी। कुछ बनावटी क्रोध सा दिखाकर कहने लगे—“भला मैं तो सोचता था, स्त्रियों के समानाधिकार तत्व की वकालत करूँ, कुछ ही दिनों में मालामाल हो जाऊंगा और यहां स्त्रियों का यह हाल कि हमारी भाभी जिन्हें आंख भी दिखाने का बिचारे चौधरी भैया को कभी साहस ही नहीं हुआ, समानाधिकार पर झाड़ू फेंके बैठी है।”

मिस गज्जन की गम्भीरता बढ़ रही थी—“शायद फ्लैक्स के

चमचमाते हुये जूते की जब तक पूरी पूरी ठोकर किसी की नंगी पीठपर न लगे, आप उसे अपनी भाषा में ठुकराना नहीं कहेगीं मिसिज चौधरी !”

व्यक्तिगत अप्रिय आलोचना बेढंगा रूप लेती जा रही थी, यहां तक कि सब ही को भय सा होने लगा था। योगेश की ओर सहानुभूति करने वालों की संख्या भी बढ़ रही थी। मानव स्वभाव भी कुछ ऐसा है कि वह ऊंचे उठते हुये सिर पर आमानी से ठोकर मार पाता है, उसे झुका हुआ देखना चाहता है, किन्तु ज्यों ही वह झुक जाता है, मानव स्वयं उससे सहानुभूति करने लगता है, सहानुभूति में डूब सा जाता है। गिरते को तो दो लातें और लगाई जाती हैं नहीं, किन्तु योगेश आज शायद जूते खाना चाहता था। उसे पुचकार की जरूरत नहीं थी, उसे तो शायद आज कठोर दण्ड की ही चाह हो रही थी। फिर भी मिसिज चौधरी की इच्छा बात बढ़ने देने की नहीं। उन्होंने सहज मुस्कराकर कहा—“बातों ही बातों में आइस-क्रीम पिघली जा रही है और किसी का उधर ध्यान जाता ही नहीं है।”

“आप तो बात उड़ा देना चाहती हैं, मिसिज चौधरी। पर”

“अच्छा, अब आइस क्रीम तो चखें।” कहकर मिसिज चौधरी ने फिरोज़ी रंग की सुगन्धित क्रीम का एक चम्मच मुख में डाला। वकील साहब इस समय तक गम्भीर हो चुके थे, उन्होंने भी आइस क्रीम से समझौता करना ही ठीक समझा। योगेश ने दृष्टि उठाकर वातावरण को तुच्छ करते हुये मिस गज्जन की ओर इस भय से देखा, मानो कह रहे हों—“तुम सब एक सी ही तो हो, भीतर कोमल, बाहर तेज। भीतर शून्य और बाहर भारी भारी.....तुम.....बारूणी.....सन्ध्या.....उभि यह सब नाम मात्र ही तो हैं। इनमें कितना भेद है? इनमें कहां विभिन्नता है? यह कहां से उठती हैं?

और कहां छूट जाती हैं ? कौन समझ पाता है ? फिर भी शून्यता से उर भरे हुये आज न्याय और अन्याय की जो मीमांसा ले बैठी हो, वह क्या कुछ तुम्हारा क्षेत्र है ?” शायद क्रिया गज्जन से उस दृष्टि का अर्थ छुपा न रहा । उसने ग्राहसक्रीम मुख में डालकर चम्मच कप में रखते हुये कहा—“जाने दो, जो बीत चुका उसे लेकर व्याक्तिगत कटाक्ष सभ्य समाज में करना न तो उचित ही है और न सुन्दर ही दीखता है । विश्व की बहती हुई गति में बहते चलो—बहते चलो, और बहाव की दिशा बदल जाये तो मन-प्राण से बहाव को ही गालियां दिये चलो ।” उत्तर कटु था, किन्तु उसकी कटुता घट गई थी, क्योंकि वह अपने को ही लक्ष्य करके कहा जा रहा था ।

“जीवन की व्यंग्य भरी तीव्रता को सदा सर्वदा कटु कठोर ही क्यों समझा जाये, मिस गज्जन ? फूलों के सौन्दर्य की ओर देखकर क्यों कांटों को क्षमा नहीं किया जा सकता ?” वकील साहब कह रहे थे ।

क्रिया के मुख में बड़ा ही कड़ुआ सा उत्तर तो आया, किन्तु वह बरबस विष के घूंट की तरह से पी गई । उत्तर में केवल दो शब्द ही कहे—“काश कि किया जा सकता ।” अन्धेरा होने लगा था, मिस गज्जन क्लब आती तो प्रतिदिन थीं, किन्तु अन्धेरा होने से पूर्व ही चली जाती थीं । विषय भी कटु होगया था । क्लब की बातचीत में इस मण्डली का रुख कुछ ऐसा कठोर बन गया था कि अन्य साथी कुछ खेलने चले गये थे, और कुछ यूं ही इधर उधर बिखर गये थे । क्रिया भी खड़ी होगई ।

“और दो चार मिनट न बैठोगी ?” मिसिज चौधरी ने शिष्टाचार के नाते कह दिया ।

“नहीं समय हो गया है—और यों भी मुझे एक मरीज देखना

है। उसकी हालत नाजुक है। सुबह से वहीं थी। अब सोचा एकाध घण्टा क्लब ही हो आज, अभी फिर वहीं जाना है।”

“किधर जा रही हैं आप मिस गज्जन।”

“हैबट रोड”

“मुझे भी उधर ही जाना है। सन्ध्या एक अपनी सखी से मिलने गई हैं और मुझे उन्हें वहां से लेने जाना है।”

“क्यों सन्ध्या की अपनी कार कहां गई?” मिसिज चौधरी की उत्सुकता शान्त होनी आवश्यक थी।

“कुछ बिगड़ गई थी। मरम्मत के लिये गई हुई है।”

“अभी आपको देर हो तो बैठें, मैं चली जाऊंगी?”

“नहीं, नहीं, मुझे तो अभी वहां जाना है—सन्ध्या ने साढ़े सात बजे ही बुलाया है। शोफर को कह दें बिल्लु को सैर करा के कार ले आवे, न हो मैं ही आपको पहुँचा दूंगा।”

“नहीं, कार वहां पहुँच जायेगी। अभी चलिये, आपके साथ ही चली चलती हूँ।” दोनों प्रणाम करके चले गये। मन ही मन मिसिज चौधरी डाक्टर मिस गज्जन के रखे तीखे व्यवहार की आलोचना करने लगी।

कार को चलती करके योगेश ने कहा—“मिस गज्जन! आज मैंने जीवन का एक नया ही रूप देखा है। सच ही नारी का गुण और रूप तेजस्विता है, न कि आज्ञाकारिता।”

“तभी तेजस्विनी सन्ध्या से ऊब गये लगते हो।”

“सन्ध्या में तेजस्विता नहीं, काटने चीरने की शक्ति है।”

“हूँ” क्रिया की प्रवृत्ति इस विचित्र व्यक्ति से एक बात भी करने की नहीं हो रही थी। आज इसे क्रिया में जीवन का रूप

दीखने लगा है और कल.....क्रिया का सिर दुःख रहा था—उत्तेजना से वह तड़फ रही थी। मार्ग भर योगेश किसी प्रकार भी क्रिया का मुख खुलवा न सका। हैबट रोड की विशाल कोठी के सामने कार रुकवा कर क्रिया उतर पड़ी। योगेश साथ जाना चाहता था, पर क्रिया बरबस उसे लौटा कर भीतर गई। विशाल कोठी के एक गन्दे से नौकरों के घरों में था क्रिया—प्रसिद्ध लेडो डाक्टर मिस क्रिया गज्जन का रोगी। बढ़िया बङ्गलूरी साड़ो के आंचल से बरबस आंख में घिर आने वाले दो मोटे मोटे आसू पोंछ कर क्रिया नीची सी छत की ओर कोठरी में घुसी। कोठरी में एक अधटूटी चारपाई पर एक हड्डियों का ढांचा पड़ा था, बिखरा सा लुटा सा। क्रिया को देख कर रोगिनी थोड़ा मुस्करा दी।

“क्या हाल है अब बरू ?”

“चुप, बरू मर गई। उसे मरे एक दो नहीं कई वर्ष हो गये रानी !” बड़ी ही धीमी स्वर लहरी उठी और विलीन हो गई। नङ्गी धरती पर रोगिनी के मुख के पास ही मुख रख कर बैठ गई क्रिया।

“क्या हुआ ?”

“वह ठीक-ठाक हैं। क्यों, क्या देखने की इच्छा होती है ?”

“प्रेत देखा नहीं करते, सुना करते हैं।” इस बार फिर क्रिया ने मुख मोड़ कर आंसू पोंछ लिये। शायद उसकी आंखें बरसना चाहती थीं। शायद वह जीवन का स्वप्न बुनते न बुनते ही उधेड़ देने वाली थी, फिर भी बोली कुछ नहीं।

“मैं उठूंगी कब इया ?” बचपन से ही लाड़ से क्रिया की सखियां उसे इया कह दिया करती थीं।

“चिन्ता क्यों करती है ? ठीक हो जायेगी, तब उठने भी लगेगी।”

“नहीं, मुझे जल्दी ही उठना होगा, मेरा कर्तव्य मुझे पुकार रहा है।”

“तेरा वर भी तुझे आज पुकार रहा है रानी।”

“देख इया, जिसे एक दिन जानबूझ कर गंगा की गोद में सप्रेम शुभ कामनाओं सहित विसर्जित कर दिया था, आज किसी भी प्रलोभन में पड़कर उसे जूठन के रूप में दान रूप से ग्रहण न कर सकूँ, सो ही आशीर्वाद तू मुझे आज भी देना और उस शुभ दिन में भी देना, जब कि मेरी कपाल क्रिया होती हो।”

रोगिणी हाँप गई। डाक्टर मिस गज्जन उसे अपने आपको और अधिक उत्तेजित न करने का आदेश नहीं दे सकीं। मूक मौन बैठी ही रही और बैठी ही रह गई। रोगिणी सांस लेकर फिर कहने लगी—
“आज जिस प्रकार तू मुझे मृत्यु के द्वार से लौटा लाई है, फिर वैसा न करना, सो ही प्रार्थना है।”

“तुझे शान्ति नहीं मिली बरू ?”

“शायद नहीं बहन मेरी। भीतर के शून्य को कपड़ा ढक कर ढका जा सकता है, किन्तु किसी तरह भी बीच में कपड़ा भर कर भरा नहीं जा सकता। कहीं कोई न कोई दरार रह ही जाती है और वह दरार ही युग-युगान्तर का अभिशाप बन जाती है।”

“सो ही तो।” बिना ही अर्थ समझे क्रिया ने मन ही मन कहा। इन्जेक्शन लगाना था, क्रिया ने इन्जेक्शन लगाया।

“यह सुईयाँ किस लिये छेदती हो ? इस शरीर को बचा कर क्या करोगी, इया ?”

“सो क्या मैं बचाना चाहती हूँ, मैं तो इस काम पर लगाई गई हूँ। दल का यह काम मेरे जिम्मे है। मुझे यथासम्भव तुम्हारे दल के घायल व्यक्ति के प्राण बचाने ही थे। तब भी जब कि वह

व्यक्ति तुम थी ।” स्वर में विरक्ति भी थी, तीव्रता भी और कुछ कुछ क्रोध भी ।

क्रिया का हाथ चारपाई की पाटी पर रखा हुआ था । अनजाने ही उसी ओर की आंख से एक आंसू की बूंद रोगिणी की आंख से निकल कर क्रिया के दाहिने हाथ पर गिर पड़ी ।

“देश को सर्वस्व अर्पित करके भी कहीं कुछ बचा रखना चाहती हो, कहीं कुछ दुराव रखती हो ?”

“कहाँ किसी को कुछ अर्पित कर पाई ? एक दिन एक व्यक्ति को सर्वस्व भेंट करना चाहा था, पर उसने स्वीकार किया नहीं ; चन्दन सुखा दिया, अक्षत् बिखेर दिये, फूल कुचल डाले, मन की शान्ति करुण हो रो उठी । फिर एक दिन..... उसी बिखरी हुई सामग्री को लेकर टूटा फूटा थाल सजा लाई देश भारत मां के पास पर कहाँ ? उस भेंट में बेबसी थी, ठुकराये जाने की छाप थी, करुणा थी, दयनीय भिन्ना थी किन्तु कहाँ थी उसमें उत्सुकता आकांक्षा.....उत्साह.....चाव....., तभी तो वह भी परे फेंक दी गई, स्वीकार कहाँ हुई ? बाहर का खोखला मान गौरव देख कर ही भीतर का खोल भरे होने का भ्रम न करो दिया !”

क्रिया सोच रही थी कि गजानन कहता था कि इसी नारी ने सरदार योगेन्द्रसिंह के नाम से इलाके भर में आतङ्क फैलाया हुआ है । नगर के पुलिस अधिकारियों की ओर से सरकारी विज्ञप्ति में घोषित इसके सिर की कीमत दस हजार रुपया है । योगेश मजूमदार इसी सरदार योगेन्द्रसिंह का सिर पाने का व्याकुल हो रहा है । किन्तु ऊपर से वीरता का बाना पहिने हुए कितनी करुण, कितनी दयनीय है यह नारी....., कितना विफल स्नेह भरा हुआ है इसके सुकोमल नारी

नैनों में और कितना भूखा है योगेश उसके स्नेह का ? किन्तु..... किन्तु कितनी शून्य है इसकी भीतरी नारी, कितनी अपूर्ण है इसके भीतर सो रही नारी, यद्यपि स्वयं यह कितनी पूर्ण है, जाग्रत है, प्रशंसनीय है । क्रिया सोच रही थी कि मनुष्य क्यों किसी को कुछ देना चाहता है । पाने की भावना तो समझ में आती है किन्तु किसी को कुछ देकर, किसी पर कुछ बखेर कर, किसी को अपने स्नेह जल से स्नान करा कर ही किसी किसी मानव की प्राप्ति होती है । क्रिया को याद आया जब वह दोनों स्कूल की छठो श्रेणी में पढ़ती थी । प्रायः बालिकायें एक दूसरे से लेकर या होस्टल के बगीचे से तोड़-तोड़ कर फूल इकट्ठा किया करती थीं । सब से आगे जाकर सब से पहिले उठ कर वारुणी कटीली झाड़ियों के बीच घुस कर चुना करती थी फूल और फिर सब से बड़ी ढेरी इकट्ठी कर के मुक्त भाव से उसे दे डाला करती थी अपनी सब कमरे की लड़कियों को । हम सब हँसा करती थीं उसके इस कर्म पर । एक बार मैंने कहा था—“बरू ! तू अपनी मेज पर तो कभी एक फूल भी नहीं रखा करती है, फिर भला तुझे इतने परिश्रम से इतने सारे फूल इकट्ठे करने की क्या आवश्यकता होती है ?” हंस कर कहा था वारुणी ने—“यहीं तो तू भूल करती है रानी ! स्वयं अपने ऊपर, अपने लिये उपयोग में लाने में एक प्रकार की प्रसन्नता तो होती है किन्तु वह होती है केवल मात्र आत्म प्रशंसा—आत्म प्रलोभन को सन्तुष्ट करने वाली बात—वास्तविक आनन्द तो दूसरों को दे डालने, मुक्त भाव से लुटा देने में ही आता है ।” शायद यही उसके जीवन का सब से बड़ा सत्य है और शायद यही न कर पाने पर आज उसका अभाव, उसकी आत्मा में सब से अधिक खटक रहा है ।

“किन्तु बहिन ! जो अपनत्व को स्वयं दोनों हाथों से उठा कर

बहा डालते हैं अनन्त जल राशि में, उनमें भी शून्यता ? उन्हें भी अभाव ? यह कैसी पहेली है ?”

“बात तो सीधी सी ही है, जो अपनत्व को चाव से, स्वेच्छा से मिटा देते हैं, उन्हें अभाव खटकता नहीं किन्तु जिन्हें बरबस ही निजत्व को लुटा देना पड़ता है अथवा जिनके निजत्व का कोई मूल्य ही नहीं होता, कभी किसी दिन भी जिनके अहं का मूल्य आंका जाता ही नहीं है, शायद आंका जा सकता ही नहीं है, वह निजत्व को मिटा डालने का अभिमान करें भी तो कैसे ? और उन्हें गौरव से सिर उठाने को जगह रह ही कौन सी जाती है ?”

रोगिनी बहुत अधिक थक गई थी। उसने हांपती सी मुद्रा में अन्तिम वाक्य समाप्त किया। निस गज्जन का भीतरी डाक्टर सजग हो उठा।

“अब शान्त होकर थोड़ा सा सो लो रानी। अधिक उत्तेजित होते रहने से घाव भरने में देर हो सकती है।”

“मेरा नाम नहीं जानती क्या ?”

“क्यों ?”

“हरिया।”

“ओह ! वह तो औरों के सामने पुकारने के लिये ही है ना ? मेरी तो तू बरू ही है।”

“तेरी बरू मर गई।” स्वर डूब रहा था। क्रिया सोच रही थी—“दोनों ही अशान्त हैं, दूर हैं, पर हैं फिर भी वह पति पत्नी धर्म की, देश की दृष्टि से। योगेश तो सम्भवतः भूल भी गया हो किन्तु यह तेजस्विनी नारी, ठीक वैसी ही तेजस्विनी नारी जिसकी खोज में आज योगेश घूम रहा है, उसकी संस्मृति को लेकर विश्व की, इस लोक की यात्रा किये जा रही है। कैसी विडम्बना है विधि की।”

“योगेश बहुत दुःखी है आजकल ।”

“क्यों, सन्ध्या बहिन नहीं हैं क्या ?

“हैं तो पर योगेश के पल्ले में आंचल बांध कर बैठ पाती नहीं । बरू ! यदि तू आज चाहे तो उसे भी सुखी कर सकती है और स्वयं भी अपना पुराना स्थान प्राप्त कर सकती है ।”

एक गहरी सांस लेकर रोगिनी ने कहा—“एक दिन जो नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है, जिसके स्मृति चिन्ह तक न जाने कब की खो चुकी हूँ, आज मरण वेला उसका लोभ क्यों दे रही हो बहिन ?”

“प्रलोभन नहीं, यह तो साक्षात् ही सा है ।”

“जाने दो, जो मन से खो चुका—जो मन में कभी था ही नहीं, उस पर पङ्ख फैला कर छाया डालने से क्या लाभ होगा । व्याज तो मिलेगा ही नहीं । हाँ, मूल ही अपना खो बैठूँगी ।”

दोनों ही चुप रहीं, फिर रोगिनी धृष्टता से कहने लगी—
“अनाधिकार चेष्टा करनी होती तो उस दिन ही बाहर पग न धरती । आज लुटी हुई देहरी को बसाने का चाव मुझे रह नहीं गया है ।”

“यहीं तो तुम भूल करती हो ।”

“या शायद भूल का सुधार यहीं खोज पाती हूँ ।”

ठीक इसी समय योगेश घर के एकान्त कमरे में सुरा सेवन कर रहा था । सन्ध्या उस रात अपनी सखी के घर ही रह गई थी ।

दुर्गम घाटियां

:: १७ ::

“जीवन की जिन दुर्गम घाटियों में से होकर मुझे गुजरना पड़ता है उनका तुम्हें भला कहीं खूब बी-झ्याल भी हो सकता है ? तुम तो यह कह देना भर जानती हो कि यह नहीं हुआ, वह नहीं हुआ ।” श्रीधर थका हुआ था, घबराया हुआ था और उस सब का परिणाम था झुल्लाहट, क्रोध और बेबसी, जिसका पूरा बदला एक उस निरीह नारी से ही लिया जा सकता है जो कि घर की एक मात्र जीवित जाग्रत अधिकृत वस्तु है । बसन्ती का मन भी थक चुका था, शरीर घिसटता जाता हुआ अस्वस्थ था और उससे भी अधिक अस्वस्थ था मन । प्रतिदिन प्रातः उठ कर बसन्ती चिल्ला कर कह देना चाहती थी कि वह बीमार है, बहुत अधिक बीमार है, थकी-टूटी है, उससे उस थके शरीर, रोगी मन और शुष्क प्राण को लेकर गृहस्थी का ढोंग नहीं चलता । वह चला पाती ही नहीं । और फिर दिन चढ़ने लगता है । धीरे-धीरे झुल्लाहट, चिल्लाहट और घबराहट की भावना भी बसन्ती के मन से तिरोहित होती जाती है और फिर टूटा हुआ मन प्राण लेकर बसन्ती चारपाई पर औंधे मुंह गिर कर सोचती है—

“क्या इस चक्की को चलता, निरन्तर गतिहीन चलता रखना ही जीवन का उद्देश्य है ।” उत्तर नहीं मिलता, किन्तु प्रश्न स्वयं दोहरा दोहरा कर दिया जाने वाला उत्तर बन उठता है और फिर आज

अचानक ही जब प्रश्न श्रीर उत्तर जटिल बन कर गिर पड़े बसन्ती के सिर पर अकारण ही, तो बसन्ती अपने आप को सम्भाल पाई नहीं—

“जोवन की दुर्गम घाटियां शायद घर के बाहर ही न होकर, घर के भीतर भी होती हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि घर के भीतर होने पर उनका महत्व माना जाता नहीं जब कि घर के बाहर होने पर उनका महत्व दुगुना, चौगुना बढ़ा दिया जाता है।”

पुरुष कमाता है, कमा कर लाता है और पत्नी घर बैठे ही बैठे बिना किसी कष्ट के उसके कमाये हुए धन का सद् अथवा दुरुपयोग करती है। पुरुष वह सब कुछ शान्तिपूर्वक देखता रहता है किन्तु देख सुन कर भी उसे साधारणतः शान्ति से ही सहता जाता है क्यों कि न सहने में इसे कुछ भी तो लाभ है नहीं और सहना कुछ उसे महंगा भी तो नहीं पड़ता, महंगा तो पड़ता है उसे न सहना क्योंकि न सहने में उस पर गृहस्थी का भार जो पड़ता है।

श्रीधर मुञ्जलाया हुआ तो था ही। तमक कर बोला—“लोग हैं जो मांजें करते हैं और एक हैं हम और हमारी किस्मत, कि कहीं भी सुख नहीं—साहब कहता है कि सरदार हरिसिंह को, अनिल कुमार को और न जाने कम्बलत कौन कौन हैं, उन्हें न पकड़ पाना तुम्हारी ही कमजोरी है, निकम्मापन है और वह नालायक हैं इतने तेज कि पकड़े जाते ही नहीं। दूसरी ओर बीबी साहिबा फरमाती हैं कि घर में उनके लिये गहरी दुर्गम घाटियों की कमी नहीं है, जैसे मैं ही एक फूलों की शय्या पर आराम कर रहा हूँ।”

‘देखो यह तुम्हारी गृहस्थी है। जी चाहे सम्भालो, जी चाहे न सम्भालो, मैंने ही तो इसका ठेका लिया है नहीं। आज निरन्तर दस वर्ष से जो भार ढोती आ रही हूँ, उससे आज ही छुटकारा मिल

जाये ।” स्वर में तेजी न होते हुए भी विरक्ति की तिक्तता थी, कड़वाहट थी और थी जीवन की विषैली थकान । शायद श्रीधर उसके लिये तैयार न था । आफिनर को डांट फटकार खाकर भी जिनका आहत अपमान केवल रो देता है, चिल्लाना नहीं, चीखता नहीं और बम की तरह अचानक फट कर अग्नि भी नहीं बरसा पाता, पत्नी की तिक्तता का ज्ञान होने मात्र से ही उनका आत्म-सम्मान भयङ्कर चक्कर खाकर घबरा उठता है । यहीं पर तो वह अपनेो मनुष्यता का यथार्थ परिचय देता है, यहीं तो उसका व्यक्तित्व जीवित और जाग्रत हो उठना चाहता है ।

“ओह, यह बात, आज शायद दस ग्यारह वर्ष बाद पुरानी भूल मालूम हुई है, और दो चार साल बाद मालूम होती तो शायद अधिक अच्छा होता । उस समय तक तो यह गृहस्थो अपनी न होकर दूसरों की कहाई जाने पर सहज ही छोड़ी भी नहीं जा सकती ।” तीव्र व्यङ्ग्य था । बसन्ती ने मुख उठा कर देखा श्रीधर की ओर—आखें जल रही थीं, उनमें दीनता न थी, था कड़वापन । बसन्ती के भीतर और बाहर भी कड़वाहट ही कड़वाहट भरी थी । निरन्तर दरिद्रता के चक्र में पिसते रहने से उसकी शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार की सहन-शक्ति चुक गई थी । रोकते रोकते भी उसके मुख से निकल गया—“गलती जब भी मालूम हो जाये, तब ही भला ।” अग्नि में घी पड़ गया । श्रीधर क्रोध से कांपता हुआ उठ खड़ा हुआ ।

“ठीक है, तब आज क्यों न दोनों ही उस भूल को जान लें । आज तक तुम्हारी उपेक्षा करता रहा किन्तु अच्छा हुआ आज जीवन वृत्त का कटु फल साक्षात् ही दीख पड़ा, इसका परिणाम भी.....आज कटु फल का ज्ञान कराने का फल भी तुम्हें ही भोगना पड़ेगा ।”

दोनों में से किसी को भी ध्यान न था कि नीचे का दरवाजा खुला ही पड़ा था। बसन्ती सुन कर एक ओर होंठ काटती हुई, ताकती रही और उत्तर आया खुले ज़ीने के दरवाजे से—“दीदी यदि किसी दिन फल भोगेगी भी तो विश्व भर में आज तक जितने शुभ कर्म किये जा चुके हैं, उन्हीं का।” क्षणिक उत्तेजना में डूबा हुआ अनिल रण भर में दोनों के सामने था। बसन्ती के कांटों तो खून नहीं।

श्रीधर व्यङ्ग्य भरी हंसी से घर भर को गुंजारता हुआ बोला—
“इन्हीं के बल पर मेरी घर गृहस्थी को सहज ही त्याग रहा थी देवी जी।” बसन्ती चुप ही रही। अनिल ने उत्तर दिया—

“यदि दीदी आज इस घर को त्यागना चाहे तो और भले ही उन्हें कहीं ठौर न हो, इस अभागे भाई के पास उनके लिये जगह की कमी न होगी।”

बसन्ती ने चुपचाप आँसू पोंछ लिये। श्रीधर क्रोधान्ध हो उठे थे।

“तब निकल अभागो ! अभी इसके साथ निकल जा। मेरे घर में वास्तव में ही तेरे लिये स्थान रह गया नहीं है।”

इसी बीच त्रय ग्रसित बसन्ती कई बार खांस चुकी थी। चुप ही रही किन्तु श्रीधर ने हाथ धर कर उसे द्वार की ओर ढकेलना चाहा।

इस बार बसन्ती ने धीमे स्वर में से कहा—“देखो शोर न करो, ऊपर बच्चे सो रहे हैं, जाग उठेंगे। मेरा भाई भी घबरा रहा है।”

बसन्ती का स्वर आत्म विश्वास और गौरव से भरा हुआ था। स्वर में दृढ़ता थी और थी शासन ध्वनि। आश्चर्य चकित अनिल ने परिस्थिति समझ ली। अब उसे जान पड़ी अपनी भूल। उसने, अपरिचित व्यक्ति ने अचानक ही बसन्ती की सुखी गृहस्थी में एक

भूचाल सा खड़ा कर दिया अपनी क्षणिक उत्तेजना को लेकर । किन्तु अब किया क्या जा सकता था, तीर तरकश से छुट चुका था । फिर भी उसने आज अपनी रोगिनी, पीली आकृति वाली, सदा की भक्की, दयालु, किन्तु चिड़चिड़े स्वभाव वाली दीदी का एक नवीन रूप देखा, जिसको कि वह कभी कल्पना भी नहीं कर पाता था —कैसा विचित्र था उसका यह नवीन रूप और कितना प्रलोभनीय ।

“ग्रोह ! अभी बच्चों की चिन्ता लगी हुई है ?” बपू कटु था ।

“देखो, तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, अब और अधिक उत्तेजित न हों ।” फिर अनिल की ओर मुड़ कर अधिकार भरे स्वर में बोली— “भैया ! तुम आज अब और अधिक मत ठहरो, फिर किसी दिन आ कर इनका कोमल स्वरूप देखना, यही उचित भी है ।”

आदेश की अवहेलना अनिल न कर पाता । बसन्ती स्वयं भी मुड़ कर तिमझिले की ओर जाने लगी थी, किन्तु श्रीधर गरज उठा —

“इस समस्या का हल किये बिना तुम्हें रखना असम्भव है ।”

बसन्ती सन्न हो गई एक बारगी । श्रीधर उसका पति, उसकी सन्तान का पिता उस पर सन्देह करे, उसे अविश्वासिनी समझे । बसन्ती खड़ी थी, धरती पर बैठ गई, शायद खड़ी नहीं रह सकती थी ।

“यह त्रिया चरित्र रहने दो ।”

“बस साहब ! अब अधिक बोलने का कष्ट न करें । दीदी यहां नहीं रहेंगी ।” अनिल ने उत्तर दिया ।

“ठीक, वही तो मैं भी कह रहा हूँ, सो ही करो । ले जाओ इसे जहां मर्जी हो, लेकिन जाने से पूर्व अपना परिचय तो दिये जाओ आगन्तुक । जो चाहता है तुम्हें गोली मार दूँ, पर नहीं इस प्रकार

तो तुम्हारा और इसका प्रायश्चित्त होगा नहीं.....आज तुम्हें छोड़ा ।” श्रीधर हिताहित ज्ञान-शून्य हो चुका था ।

बसन्ती सम्भल चुकी थी । उठ कर तन कर खड़ी हो गई ।

“आज जो तुमने व्यर्थ में ही उत्पात किया है । किसी दिन तुम्हें उसका दुःख होगा अवश्य, किन्तु अब मैं यहां ठीक ही न रह सकूंगी । जहां एक दिन सिर जंचा करके रहती थी, वहीं आज सिर झुका कर रहूंगी नहीं ।” तीव्रता से बसन्ती सीढ़ियां उतर गई । श्रीधर निष्फल क्रोध से गालियां और कटुवचन बोलता हुआ इधर उधर घूमने लगा ।

सड़क पर खड़े होकर अनिल ने कहा—“तांगा करलूँ दीदी ?” वह अपने अपराध को बहुत ही अधिक मान कर मन ही मन कांप रहा था ।

“कहां चलोगे ?”

“क्यों, अपने घर ?”

“जिस घर में एक दिन आदर-मान से आई थी, अब अपने हाथों ही उसका द्वार सदा के लिये बन्द न कर सकूंगी । कभी किसी दिन लौट कर आ सकूँ, वह द्वार रखना ही पड़ेगा ।”

“तब ?”

दोनों ही थोड़ी देर चुप रहे, फिर बसन्ती ने कहा—“मुझे सन्ध्या के घर पहुँचा दो । वहाँ जानते हो श्री योगेश.....”

“जानता हूँ ।” कहते कहते मन-प्राण से अनिल कांप उठा ।

मूर्ख

:: १८ ::

ध्वनि की तीव्रता बढ़ रही थी और साथ ही साथ पुलिस को उत्सुकता भी, उनका धैर्य मानो चुक गया था। वह जलूस न था, कुछ आतुरों की पुकारें सुन पड़ती थीं, शायद उनके मिर पर गांधी टोपी रही हो। योगेश की इच्छा हो रही थी कि आज सारे विश्व ब्रह्माण्ड को कुचल डाले। अन्य किसी से क्रोधित होकर मनुष्य झुंझलाता है वातावरण पर, किन्तु स्वयं अपने से क्रोधित होकर झुंझलाहट निकालता है मनुष्य दूसरों पर। यही हाल आज योगेश का था, वह स्वयं अपने ऊपर क्रोधित था। अभी प्रातः ही तो सन्ध्या ने स्पष्ट रूप से कह दिया था कि वह पुराने चाल की नारी की भांति दब नहीं सकती, सिकुड़ नहीं सकती, वह फैल सकती है, किन्तु अपने आप को सीमाओं में बांधकर नहीं रख सकती।

“मैं यह किस दिन कहता हूँ कि तुम अपना क्षेत्र सीमित कर रखो। मैंने तो किसी दिन भी तुम्हारी स्वतन्त्रता में बाधा डाली ही नहीं।”

“तुम्हारा यह अभिमान ही तो सब से बड़ी बाधा है कि तुम सोचते हो कि तुमने मुझे स्वतन्त्रता दी है, तुम भला होते कौन हो किसी को स्वतन्त्रता देने अथवा न देने वाले?”

“यही है न वह विश्व, जिसमें मैं रहता हूँ।” सोचा बिचारे

योगेश ने। आज ही तो दोपहर को कमरे के ठीक बीचोंबीच खड़े हो कर टाई ठीक करते समय कमरे के दक्षिण भाग में दीवार पर लगे अपनी पूर्व पत्नी की तस्वीर योगेश ने देखी थी। इसी को देखे बिना कितने दिन बीत गये थे, पर किसी दिन क्षणमात्र को भी योगेश ने बरू, अपनी सुशीला पत्नी को याद नहीं किया, आज कुबेला में अचानक यह स्मृति की झांकी क्यों ? शायद वह अच्छी थी, शायद नहीं, पर वह अच्छी हो तो भी मुझे उससे मिला क्या ? मैंने उससे पाया क्या ? सोचा योगेश ने। विचारों की गहरी उलझन में वह डूबा रह गया, किन्तु कौन सोचता है कि उसे ही किसी ने कब दिया क्या था। यहां तक कि उसने सर्वस्व देकर भी कब क्या किससे पाया था, यही थी ना उसकी मिटती हुई सी अमिट भाग्य रेखा। झुंझलाया हुआ सा योगेश आज विश्व भर को कुचल डालना चाहता था, अपने न पाने पर। पर उसने ही कभी किसी को क्या दिया था। बरू मिट गई थी। गहरी खिंची हुई रेखा रूप होती हुई भी सन्ध्या मिट जाना चाहती थी। इसी बीच कब कौन २ से चित्र मन पर खिंचे हुये थे, और कब मिट गये थे, उनका हिसाब योगेश के पास था ही कहां ? फिर अज वह जगत भर का हिसाब, बनाने बिगाड़ने का हिसाब क्यों रखता फिरे। वह तो मिटायेगा, मिट जायेगा। यथासम्भव जो कुछ भी उससे मिट सकेगा, उसे मिटा डालना ही चाहेगा, यही तो उसका उद्देश्य है आज। सामने मानव प्राणी थे और उसकी आज्ञा पर बन्दूक की नली से निकल कर मानव सीने में भीतर तक घुसती चली जाने वाली गोलियां चल रही थीं। मानव की हर उंची चिल्लाहट पर योगेश का मन नाच उठता था। ठीक ही तो है, इन्हें रोना ही चाहिये, इन्हें तड़पना ही चाहिये, यह इसी योग्य हैं। इनके लिये यही ठीक है, यही ठीक है।

अचानक पास खड़े हुये योगेश के सहकारी ने धीमें स्वर में

कहा—“अब तो यह हत्याकांड बन्द करवाईये मिस्टर मजूमदार ।”

“क्यों, यह सब बागी हैं ।”

“कहां ? यह तो निरोह, भूखे गांव वाले हैं जो कि पेट की ज्वाला न सह सकने के कारण शहर की ओर दौड़ पड़े हैं । सचमुच ही इन्हें क्रान्ति तो क्या, परिवर्तन के अर्थ तक नहीं मालूम ।” साधारणतया योगेश का व्यवहार अपने सहकारियों के प्रति भला था, यही कारण था कि उसके सहकारी उसमें डरने की अपेक्षा उससे स्नेह अधिक करते थे और इसी कारण से उसका सहकारी उस दिन उस अकारण ही किये जाने वाले हत्याकाण्ड में ऊब कर यह कह बैठा । अनपेक्षित रूप से तीखा उत्तर मिला, योगेश की ओर से—“कौन क्या है ? इसका ज्ञान मुझे तुमसे अधिक है । यह भोले दीखने वाले गांव वाले हैं, अथवा भयंकर क्रान्तिकारी, सो मुझे आज दिन भी तुमसे सीखना शेष नहीं है ।”

फायर होरहे थे, निरोह स्त्री-पुरुष और बच्चे चीख रहे थे, गिरगिर जाते थे । उधर से पृथ्वी पर निराश्रय, व्याकुल, तड़पते हुए न जाने किसके प्रति जाग्रत प्रतिहिंसा की भयंकर भावना योगेश के हृदय की तड़प को शान्त कर रही थी, निरोह व्यक्तियों की तड़पन दिखाकर ।

धीरे धीरे योगेश ने अपना रिवाल्वर निकाला । उसका जी चाह रहा था मानव रक्त में खेजने को । सहकारी ने मन ही मन जल कर कहा—“स्वदेश की सन्तानों को मारो, निहत्थे दुःखियों को मारो मारो, खूब मारो, बदले में तुम्हें मिलेगा यश, धन और प्रमोशन । इसीलिये ना बिचारे भूखे किसान बरबस क्रान्तिकारी बनाये जा रहे हैं ।” पिछले दो चार शब्द कुछ धीमे से स्वर में मुख से बाहर निकल गये थे और न जाने कैसे प्रतिध्वनित हुए उसके कान में “मूर्ख” । योगेश

कुछ दूर था, उसने घूम कर देखा, उसके सहकारी ने भी चारों ओर देखना चाहा। पर जाने कौन जोर से “मूर्ख” कह कर मानो वायु-मण्डल में घिलीन हो गया। योगेश मन ही मन कट कर रह गया, “सचमुच ही मैं मूर्ख हूँ। आज मेरी अतृप्त आत्मा क्रोधित है, उत्तेजित है वारुणी से। किन्तु कहां है विश्व भर में आज वारुणी, मेरी प्रति-हिंसा जाग्रत हो उठी है सन्ध्या के प्रति किन्तु सन्ध्या ही क्या आज मेरी पकड़ में है ?”

“फिर इन्हीं पर भुङ्गलाहट क्यों ?” कहा मन में किसी ने। किन्तु मैदान साफ था। दो चार कराहते, भागते व्यक्तियों के अतिरिक्त और वहां खड़ा था ही कौन ? और सचमुच ही मूर्ख योगेश की भीतरी चेतना, मानव चेतना तड़फ रही थी अकारण अतृप्त और निरुपाय। रात्रि में योगेश किसी प्रकार भी छोटे से शब्द “मूर्ख” से छुटकारा नहीं पा सका, इच्छा करके भी नहीं, प्रयत्न करके भी नहीं, किसी प्रकार भी नहीं, किसी तरह भी नहीं। उसी दिन रात्रि को अनिल कह रहा था भाभी से—“और फिर भाभी वह मूर्ख बिचारे गरीब भूखों पर ही गोली चलवा कर प्रसन्न हो रहा था।” अनिल ने भाभी की आंखों के भीतरी भाग में जलती हुई अग्नि को देखा ही नहीं अथवा जान बूझ कर महत्व नहीं दिया कौन कह सकता है, किन्तु वहां कुछ था अवश्य, अतृप्त सा, तीखा सा, नाचता सा, व्याकुल सा, तड़पता सा।

परिवर्तन

:: १६ ::

“और उसका पहिला शिकार मैं होऊंगी।”

“तुम.....तुम सन्ध्या तुम” बड़े भारी आश्चर्य से से कहा डाक्टरनी मिस क्रिया गज्जन ने।

“सन्ध्या के मनुष्यत्व में भी शायद मिस गज्जन को सन्देह हो जाता है।”

“नहीं सो बात नहीं, किन्तु.....” सन्ध्या भली प्रकार जानती थी कि वह मिस गज्जन को फूटी आंखों भी नहीं सुहाती है, फिर भी आज उसके कर्त्तव्य में एक भीषण तूफान छिड़ा हुआ था। आज उसे स्वात्माभिमान की पकड़ में किसी को अछूता छोड़ जाने की इच्छा भी नहीं है और किसी की ओर से मुख मोड़ कर उसे अपमानित करने की आकांक्षा भी नहीं है। आज वह सन्ध्या की छाया न रह कर नग्न हो जाना चाहती है। भीतर की दीनता को बाहर के आवरण से छुपा कर रखने का समय निकल गया। आज सन्ध्या भीतर और बाहर के भेद को मिटा कर एकाकार हो जाना चाहती है।

“जाने दो, यह सब तो फ़िजूल की बातें हैं, इनके पीछे अपना दिमाग़ लगाना बेकार है।” कहा हमीद ने।

“ठीक दिमाग़ सही किस तरह रह सकेगा, वह भी ज़रा बता दो हमीद। आज मुल्क का बच्चा बच्चा—शायद जिस वहम को, जिस

खफ़्त को लेकर पागल हो उठा है, उसे तुम हंस कर उड़ा दोगे ?”
क्रिया प्रखर थी ।

“मिस गज्जन, हो सकता है आप ही ठीक कहती हों, लेकिन हमारी दुनियां में तो उससे कुछ भी फर्क आया नहीं । आज कार में आ रहा था । रास्ते में सड़क के ठीक बीचों बीच एक गोरा मिलिटरी मैन जा रहा था । मेरे देखते देखते एक खादी टोपी वाले छोट्टे से छोकरे से उसकी तू तू मैं मैं हो गई और क्षण भर में टोपीधारी शायद कालिज का छोकरा रहा हो, धरती पर लोट रहा था । यही है ना आपकी आज की क्रान्ति की शकल ।”

“क्या है, सो नहीं जानती, पर आंधी चाहे पश्चिम की हो, चाहे पूर्व की, काली हो अथवा पीली हो, है तो वह आंधी ही ।”

“यह नीरी तर्क प्रियता है, बहन ! किन्तु जो भी हो आज तुम्हारी सन्ध्या की मीटिंग में मैं अवश्य जाऊंगी । और यदि मजूमदार की पिस्तौल से गोली निकली ही तो उसका पहला शिकार मैं अवश्य होऊंगी ।”

“और तब अफसोस भरी बधाई देने में भी पहुँच जाऊंगा सन्ध्या, पर आज आप एक सेट न खेलेगी क्या ?”

“नहीं, मुझे घर जाना है, बसन्ती अकेली ही तो है घर पर ।”

“उसे यहां ले आना था ।” क्लब की नई मेम्बर मिसिज सुबीरा सिन्हा ने कहा ।

“कहती तो रोज ही हूँ, पर वह किसी प्रकार भी राजी हो नहीं होती ।”

“बिचारी का क्या जीवन रह गया है ।” बड़े गम्भीर दुःख से उन्होंने कहा ।

“हूँ” कहा सन्ध्या ने और मन ही मन बोली, “मैं मूर्ख हूँ । अपने मन-प्राण का दशा जानते हुये भी तुम्हारी छवितयां सुनने, सम्मुख

या पीछे मुख से निकले ताने भरे वाक्य सुनने आ जाती हूं, पर वह मुझ से अधिक समझदार है। तुम्हारी यह करुणामयी दीनता प्रदर्शनी बाणी सुनने ही तो वह यहां आती नहीं।”

उधर मिसिज़ सिन्हा उत्तर की प्रतीक्षा न करके हमीद से बातों में उलझ गई। उनकी नई कार तो आ गई है, पर पेट्रोज़ इतना कम मिलता है कि अक्सर साहब के आने जाने को ही पूरा नहीं होता। लेकिन फिर भी किया क्या जाये, मेम साहब भी तो कहीं पैदल आ जा सकती नहीं, और फिर तुम जानो, आना जाना तो हुआ ही। साहब तो भला फिर भी न हो, साइकिल पर जा सकते हैं, पर मेम साहब भत्ता कैसे जायें? नौकर टिकने नहीं और होते भी तो चोर हैं। हमीद हर प्रकार की समस्याओं पर बड़े मजे से बातें कर सकता है, फिर मिसिज़ सिन्हा को भी अपनी समस्यायें सुनाने के लिये हमीद से अधिक सुशान्त श्रोता और मिलना ही कहाँ? उबर सन्ध्या की ओर से सदा की उदासीन क्रिया खिपक कर सन्ध्या की ओर जा बैठी। ‘ट्रिक’ चल रहा था और सब लोग भी सामूहिक रूप छोड़कर दो दो के रूप में प्रायः बातें कर रहे थे। क्रिया मानो आज सर्वाङ्ग रूप से सन्ध्या को पढ़ डालना चाहती थी। उसने आज सन्ध्या की ओर ध्यान से देखा। सन्ध्या पश्चिम की खुली खिड़की से बाहर दृष्टि डालकर डूबते हुये सूर्य की ओर एक टक ताक रही थी। वही पतले गुलाबी होंठ थे, वही अधमुंदी विशाल घनी काली आखें और रक्त भरी नालियों सी, चेहरे के बीचोबीच खड़ी सुडोल नाक। चेहरे पर ताजगी थी, जैसे नव विकसित गुलाब हो। क्रिया मन हो मन कह उठी—‘रूप की रानी! यह तुम्हारा अद्भुत रूप ही तुम्हें विश्व मोहिनी बना रहा है। काश! कि यह रूप हमारे काम आ सकता।’ प्रकट रूप से उसने कहा—“सचमुच तुम जलसे में चलीगी?”

ध्यानमग्न सन्ध्या चौक उठी, “हाँ।”

“यह जानते हुये भी कि आजकल जलसे गैरक्रान्ती हैं। किसी समय भी गोली चल सकती है, अवस्था भयंकर है।”

“यह जान सकी हूँ, तब ही तो जाऊंगी।” उसी तरह स्थिर दृष्टि से बाहर देखते हुये सन्ध्या ने कहा।

“सन्ध्या ! क्या तुम्हें किसी दिन समझ पाऊंगी।”

“क्या मैं ऐसी दुर्भेद्य हूँ और क्या तुम सचमुच ही मुझे जान पाने को ऐसी ध्याकुल हो उठी हो ?”

क्रिया कुछ देर चुप ही रही। कुछ बहुत से प्रश्नों का उत्तर केवल मन ही मन दे लिया जाता है। वहाँ प्रश्नों का सुन लेना भर ही उनका उत्तर देना बन जाता है।

“क्या योगेश से लड़ाई हो गई ?”

“नहीं, लड़ाई तो सबसे हुआ करती नहीं और सबसे की जाती भी नहीं।”

क्रिया ने मुख उठाकर सन्ध्या की आँखों में झाँका। सन्ध्या इस प्रकार बात कर रही थी मानो योगेश उस क्लब जीवन का, साधारण बाहरी जीवन का, एक ऐसा भाग हो जिसे इच्छा करते ही सन्ध्या उड़ा भी सकती है और लौटा भी सकती है, फिर भी उस पर उसका कुछ सहज स्थिर मोह नहीं है। आज दिन तक क्रिया ने सन्ध्या का नवयुगी तितली सरीखा स्वरूप देखा था। वह उसे विदेशी वस्त्रों, लिपिस्टक, पाउडर में लिपीपुती पुतली की तरह पति अथवा अन्य मित्रों को बाहों पर लटकती सैकड़ों बार देख चुकी थी, किन्तु भीतर ही भीतर वह इतनी उदासीन है, इतनी परे है, इतनी अकेली है, क्रिया ने कभी सोचा भी न था। उसे वारुणी से स्नेह था और फिर उसके गायब हो जाने के बाद गम्भीर सहानुभूति भी हो गई थी। वारुणी के देश निकाले का प्रधान कारण होने से सन्ध्या से उसे घृणा भी थी

और चिढ़ भी। किन्तु वह सन्ध्या स्वयं ही कितनी अपदार्थ है यह देखकर क्रिया का मन भर आया। यही है वह सन्ध्या जो नगर भर की लालायित अथवा ईर्ष्या भरी दृष्टि का केन्द्र बनी हुई है। फिर भी वह खुले मुख से दृष्टि फेरे हुये विश्व भर में किसी भी ऐसे व्यक्ति का अस्तित्व स्वीकार नहीं कर पाती, जो कि उसका इतना अधिक अपना हो कि जिमसे वह लड़ सके, उसका पति भी नहीं। क्रिया जल्दी जल्दी सब कुछ पढ़ गई और फिर असभ्य स्त्रियों के से लहजे में कहने लगी।

“सन्ध्या बहिन ! बुरा न मानो तो एक बात कहूँ।”

“कह डालो। यदि बुरा मानूँ भी तो हानि ही क्या है ? पर खैर, मैं तो बुरा मानूँगी ही नहीं।”

“बड़ी जोर जबरदस्ती से जो चीज छीन ली थी, उसका पूरा-पूरा आनन्द यदि नहीं उठाना था तो छीनी ही क्यों थी ?”

सन्ध्या का मुख एकबारगी दूबते हुये सूर्य की भांति लाल तमतमा उठा। किन्तु तुरन्त ही पीला और फिर धीरे-धीरे काला हो गया। भले ही उज्ज्वल गौरवर्ण नीला सा ही होकर रह गया हो।

“देखो, क्रिया यदि मैं इस प्रश्न का उत्तर न भी दूँ तो भी तुम मेरा कुछ कर तो सकती हो नहीं, पर मैं प्रश्न का उत्तर दूँगी। एक उत्तर तो यह है कि जो वस्तु कोई सम्भाल कर किसी दिन रख पाया ही नहीं, यदि उसे रास्ते में लावारिस पड़ी पाकर कोई उस पर अपना अधिकार जमा ले तो उसमें दोष है भी क्या ? और जैसे अपने आप ही अधिकार जमाया जा सकता है वैसे सहज भाव से हो किसी दिन उठाया भी जा सकता है, पर यह उत्तर आज न दूँगा, लौटाये लेती हूँ, मेरा आज का उत्तर यही है कि मैंने बरबस किसी दिन भी किसी के अधिकार पर डाका डाला नहीं और आज भी ऐसी नियत

मेरी है नहीं और न ही मुझे अधीकृत वस्तुओं की कमी है जो कि मैं दूसरों की वस्तु छीनती फिरूँ ।” कहकर अनायास ही कुछ अस्वाना-विक तेजी के साथ सन्ध्या के मुख पर पुराना भाव आ गया, मानो कहीं कभी कुछ हुआ है ही नहीं । क्रिया सोच रही थी—कितनी गम्भीर है यह सदा की छिछली समझी जाने वाली सन्ध्या । ज्वार भाटे के पश्चात् धीरे, गम्भीर, सुशान्त समुद्र की भाँति ही गहन है यह । “मुझे उत्तर मिल गया, फिर प्रश्न करने की हिम्मत न होगी । साथ ही साथ मैंने आज बहुत कुछ भुला डाला ।” अब तक कमरे से सब ही बाहर जा चुके थे । लान में टेनिस हो रही थी, आवाजें अन्दर भी आ रही थीं, पर सन्ध्या सुनिश्चित सी बैठी थी, मानो बाहरी दुनिया से उसका कुछ सम्बन्ध था ही नहीं ।

“मजूमदार तुम्हारे मीटिंग में जाने पर शायद नाराज हों । यूँ भी तो जाना खतरे से खाली नहीं है ।”

“जानती हूँ । रही योगेश की बात सो बहिन वारूणी के दर्शन से यहीं तो मेरी फ़िलासफी मेल खाती नहीं । कौन जानता है मेरी विचारधारा ग़लत है अथवा उनकी, पर मैं पत्नी से अधिक सन्ध्या हूँ । यह बात मैं किसी तरह भी भूल पाती नहीं । इसी कारण तो मुझे मिसिज़ मजूमदार से ‘सन्ध्या’ सम्बोधन कहीं अधिक सुन्दर, कहीं अधिक प्रिय और कहीं अधिक पूर्ण लगता है ।”

क्रिया ने फिर कोई और बात नहीं की । मन ही मन वह अपनी विभिन्न परिचित नारियों से सन्ध्या की तुलना करने लगी । कितना प्रखर है इसका व्यक्तित्व ? कितनी अद्भुत है इसकी विचार-धारा ? संसार इसे जानता है, हर किसी को मूर्ख बना डालने वाली चतुरा नारी के रूप में, पर यह स्वयं अपने आप को किसी रूप में जानना चाहती ही नहीं । इसका खुला व्यक्तित्व ही मानो इसका विश्व

संसार बना हुआ है, उसे यह मानो छुपाकर रखना चाहती है नहीं, किन्तु फिर भी उसका कुछ भी कहीं भी स्पष्ट नहीं है। एक अज्ञात छाया सी मानो उसके चारों ओर एक घेरा निरन्तर डाले रहती है जिसे कोई भी छेदकर उस तक पहुँच पाता नहीं है। वह खुली हुई भी पूर्ण-तया मुंदा मुंदाई सी रहती है। कौन जाने इसका कौनसा रूप सत्य है किन्तु कुछ न कुछ तो सत्य होगा ही, भले ही इसे हम समझ पाये नहीं।

“दीनता का बाना पहनकर किसी के सम्मुख किसी प्रकार की भी भिक्षा स्वीकार करना मेरी आत्मा किसी तरह भी मानती नहीं, फिर भी क्रिया ! यह तो तुम मानोगी ही कि मनुष्य प्रायः सदा सर्वदा ठीक ठीक जाना समझा जाता है नहीं और जहां कहीं भी उसे समझने में भूल हो जाती है, वहां से कुछ न कुछ असाधारणतया दोनों ही पक्ष में आरम्भ हो जाती है, समझने वाले के भीतर भी और समझे जाने वाले के अन्तर में भी। क्या कहती हो ?”

“सो ही सोच रही थी। मानव मानव को समझ भी नहीं पाता, जान भी नहीं पाता और शायद जान बूझकर भी जानना चाहता ही नहीं, फिर भी उसकी गति विधि सभी अलक्ष्य अवश्य बनी रहती है। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है।”

“सो ही तो पर यह भाग्य की बातें हैं, इन्हें जाने दो। हां, शाम को मैं जलसे में अवश्य आऊंगी, तुम वहां मिलोगी ना ?”

“हां और बसन्ती को भी लाना।”

“क्यों, क्या पूरी पेटीकोट सरकार पुलिस के विरोध में खड़ी कर देनी है ?”

“शायद इससे कुछ लाभ हो सके।”

“ठीक, तब ऐसा ही करो ।” कह कर सन्ध्या खिल खिला कर हंस दी खुली हंसी, मुक्त उच्च हंसी । सन्ध्या के गालों में बनने वाले गड्ढे बड़े ही लुभावने लग रहे थे और क्रिया एक टक उन्हीं की ओर देखती रही । सन्ध्या उठ खड़ी हुई । बाहर निकलने पर लोगों ने गातो हुई सन्ध्या को देखा । कुछ ने फटियां कसी, कुछ ने शब्द इधर उधर घुमाये, सन्ध्या सुना अनसुना करती हुई कार तक पहुँच गई । घर जाकर बसन्ती से कहा—“शाम को मीटिंग होगी, शायद गोली भी चले—शायद क्यों जरूर चलेगी । तुम चलोगी ?”

“तुम जा रही हो ?”

“जाऊंगी” बसन्ती ने फिर और कुछ प्रश्न किया नहीं । वह यूँ भी आज कल थोड़ा ही बोलती थी । योगेश ने इधर घर आना बन्द ही कर दिया था, प्रायः दौरे पर ही रहता है । बसन्ती का उसकी इच्छा के विरुद्ध घर में रखा जाना उसकी सहन शक्ति से बाहर था । उसने एक दिन सन्ध्या से कहा था “घर का मालिक मैं हूँ सो शायद तुम भूल जातो हो, सन्ध्या !”

“हां, घर की मालकिन मैं हूँ सो तुम्हें भी याद रखना चाहिए । यह अधिकार न मानने की इच्छा होते ही कह देना, मैं दूसरा मार्ग देख लूंगी ।”

और सन्ध्या चली गई थी । योगेश को क्रोध नहीं आया पर उसको आँखें छलछला आईं । योगेश ने सोचा कि वारूणी भी तो उस की इसी प्रकार की सुशिक्षिता, विवाहिता पत्नी थी, पर कितना अन्तर है अन्तर में इन दोनों के । बात बड़ी नहीं, बसन्ती सन्ध्या के पास ही बनी रही । समाज में अंगुलियां उठी, योगेश मास में बीस दिन से अधिक बाहर रहने लगा । फिर भी सन्ध्या वैसे ही बनी, सजी बिना किसी परिवर्तन के चलती रही । बसन्ती अधिकतर गीली आँखें लिए दिन

व्यतीत कर देती थी। किसी किसी समय सन्ध्या से बातचीत भी कर लेती थी। अनिल उस दिन के पश्चात् फिर नहीं आया। बसन्ती के आ जाने पर भी सन्ध्या के कार्य-क्रम में कोई कुछ राई, रत्तो भी परिवर्तन हुआ नहीं। बसन्ती सोचती थी कि प धातु की बनी हुई है यह नारी, पिघलती भी नहीं, टूटती भी नहीं और सीधे मार्ग पर चल पाती भी नहीं, फिर भी सन्ध्या निश्चिन्त थी। पुराने नौकर कभी कभी पुरानी मालकिन की याद करके, उनकी दया, उनके सद्भाव की चर्चा करके आंखें गीली कर लिया करते थे।

बैठक से बाहर एक छोटा सा कमरा है—किसी समय यह घर की मालकिन का पूजा-गृह था। आज भी पुरानी मालकिन की एक सुन्दर सी तस्वीर उस कमरे में लगी है। सन्ध्या कभी-कभी उसकी ओर देख कर मुस्करा देती है, जब भी कभी उसकी दृष्टि उस चित्र पर पड़ जाती है। किन्तु अधिकतर उस ओर देखकर मन ही मन कह उठती है—“मैं हार मानूंगी नहीं। तुम्हारी मेरी तुलना भी नहीं है। मेरे महत्व से तुम्हारे महत्व की समता हो सकती ही नहीं, फिर भला वैसी तुलना करके उसे तुच्छ भी क्यों करूँ।”

सन्ध्या भावुकता पर विजय प्राप्त कर चुकी थी। थोथी भावुकता उसे सहज छू पाती ही नहीं थी और शायद वह उसे प्रोत्साहन देना ही नहीं चाहती थी। फिर भी न जाने क्यों उस दिन सन्ध्या का जी चाहा कि वह वारूणी, अपनी सौत को एक दृष्टि देख पाती। पर कहां ? वह थी ही कहां ? पूजा के कमरे का रूप भी बदल चुका था। वहां दो-एक पुराने कुर्सियां भी फालतू समझकर रख दी गई थीं। आज सन्ध्या को एकान्त की आवश्यकता थी। वह पूजागृह में जाकर एक साधारण सी कुर्सी पर बैठ गई। सम्मुख मिसिज मजूमदार का चित्र लगा था, बड़ा ही सुन्दर सा था वह चित्र। वह मुस्करा रही

थी— सन्ध्या को जान पड़ा कि वह अत्यन्त साधारण सी नारी आज आसपास के वातावरण को अपने भीतर भर कर सन्ध्या के मानसिक दिवालियेपने पर मुस्करा रही है। जीवन में पहली ही बार सन्ध्या को जान पड़ा कि छाती में आस-पास भीतर ही भीतर कहीं कुछ अटक रहा है, कहीं कुछ कसक रहा है। सन्ध्या ने जन्म से ही गौरव ग्रहण करना सीखा था, आदर देना नहीं। न जाने क्यों उसे आज जान पड़ा कि यह अशिक्षित तुच्छ सी नारी उसका समस्त आत्म-सम्मान, समस्त गौरव दण्डेक में धो पोंछ डालेगी। “मैं मन-प्राण से जिसकी हूं नहीं, किसी दिन भी जिसके निकट अपने आपको सत्य कर पाई नहीं हूँ, उसे ही आज अपना आश्रय दाता स्वीकार किये बैठी हूँ, उसी के हाथ उठाकर दिये हुये दान से आज मेरी उदरपूर्ति होती है और फिर भी मैं समस्त हृदय से सहज भाव से उसे सिर झुकाकर ग्रहण कर चुकने पर भी समाज में सिर उठाकर चलती हूँ, अपने गौरव को अक्षय मानती हूँ।”

छोः। यह अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित नारी, यह तो ऐसा नहीं कर सकी ना ? जिसे हृदय के निरुद्ध स्थापित न कर पाई, उसका अन्न-वस्त्र तो क्या, अपना इहलोक का सर्वस्व भी उसके सिर पर भिखारी की भाँति उसे तरसा कर चली गई। यही वह स्वयं सुशिक्षिता गौरवमयी होकर भी क्यों न कर पाई ? यह सन्ध्या को घने आश्चर्य की सी बात लगी। सन्ध्या ने कभी किसी दिन इस ढङ्ग से सचा भी तो नहीं। वह सोचे भी क्या ? पर आज सुबह ही तो बाग में अनिल कह रहा था कि सिवाय मातृभूमि के लिये लेने के और किसी भी व्यक्ति को किसी भी अन्य व्यक्ति के धन, वैभव में हिस्सा बंटाने का अधिकार नहीं है। तब क्या ?.....क्रिया, रजनी, हमीद, चौधरी किस किस को गिन्, सब ही तो देखते हैं मेरी ओर आश्चर्य भरी दृष्टि से।.....

तब क्या ? पर नहीं सुप्त भले ही हो, ग्राह्य आत्माभिमान यह मानेगा ही कैसे ? मैं हाथ पसार कर किसी का दान भी क्यों ग्रहण करूँ ? उनका भी क्यों जिन्हें कि संसार मेरा स्वामी कहता है ? सन्ध्या अकारण खिलखिलाकर हँस पड़ी । तब फिर आज सन्ध्या का रूप बदलेगा क्या ? पर कहां, भीतर और बाहर भिन्न होने पर भी क्या सन्ध्या में कोई भिन्नता है भी ? सन्ध्या की इच्छा हुई कि वह क्षण-मात्र में ही स्वयं को समझ पाये और विश्व भर को समझा दे, पर क्यों ? उसे आवश्यकता ही क्या है ? सन्ध्या ने एक हल्की सी दृष्टि वारूणी की सुन्दर मुखाकृति की छवि पर डाली और फिर अपने कमरे में आकर बैठ गई । उसे लगा कि काउच चुभ रहा है । हवा भरी गद्दी वाली आरामकुर्सी पर बैठी, पर वहां भी कुछ चुभता-सा जान पड़ा । नहीं.....नहीं.....अनिल उसका कौन है ? वह उसके शब्दों पर, उसके शब्दों में उसकी करुण पुकार पर क्यों ध्यान देगी ? वर्षों, अनेकों वर्षों की जिन गहरी खाइयों को वह स्वयं भरती हुई निरन्तर कुचलती हुई चली आ रही है, आज उनकी भग्नावशेष को चूमने लौटकर जायेगी नहीं । बड़ी देर तक सन्ध्या उलझती रही स्वयं अपने आपसे । फिर भी उठकर उसने अलमारियों को उथल-पुथल कर डाला । शैफ़ोन, करेब, जार्जेट, सिल्क सबही कुछ था, पर खादी नहीं । खादी वहां न थी, कभी भी नहीं थी और आज भी नहीं थी । सन्ध्या को जान पड़ा—मानो एक बड़े भारी शव के लिये अलमारियों में कफ़न-मात्र ही भरे पड़े हैं ।

स्वप्न

:: २० ::

“स्वप्नों को देखते हुए भूला जा सकता है किन्तु उनसे सहज ही खेला नहीं जा सकता ।”

“तुम्हारा ख्याल है कि मैं स्वप्नों से खेलना चाहती हूँ अनिल ! सो उम्र मेरी कब ही की गुज़र चुकी है । आज भला वैसी मानसिक वृत्ति भी कहां से लाजंगी ?”

“भूल रही हो सन्ध्या ! तुम्हारी उम्र कभी भी गुज़र सकती नहीं । सारी आयु भर स्वप्नों से न केवल अपने, वरन् दूसरे के स्वप्नों से खेलती रही हो, फिर आज भला उस खेल से ऊब गई हो, यह तुम कह भी दो तो मैं मानूँ कैसे ?”

अनिल अत्यधिक उदासी में डूबता सा जा रहा था । उसकी आंखों की पुतलियां खिलती हुई भी बैठी जा रही थी ।

इस बार सन्ध्या ने अपने हाथ की सलाईयों को गोद में रख दिया । वह उदास दृष्टि से बाहर की ओर देखने लगी । “भाभी कब आयेंगी ।”

“ठीक समय पर ही पहुँचेंगी, यदि कोई अप्रत्याशित घटना न हो गई ।”

“आयेंगी किस तरह ।”

“यह कौन कह सकता है ?”

“तुम्हारी भाभी बड़े जीवट की स्त्री जान पड़ती है ।”

“उनके लिये किसी भी विशेषण का उपयोग ओछा पड़ जाता है सन्ध्या !”

“हूँ, सो ही तो जान पड़ता है। तुम सब की उन पर अतुलनीय भक्ति है।”

“और उनका क्या हम पर कम स्नेह है ? मां की सी ममता यदि कहीं पा सका हूँ, तो भाभी के निस्वार्थ शीतल स्नेह में ही तो।”

“तुम्हारी भाभी आयु से तो बहुत छोटी जान पड़ती हैं।”

“क्या जानें, हम तो लक्ष्मण की भांति भाभी के चरणों से ही परिचित हैं।”

हंस पड़ी सन्ध्या।

“उपमा कुछ तुरी नहीं है पर.....जाने दो सो फिर कभी कहूँगी, किन्तु तुम मुझे यहां आधा घन्टा पहिले से ही क्यों ले आये ?”

“घबराती हो क्या ?”

“किससे ? तुमसे घबराऊँगी, मैं सन्ध्या ???”

सन्ध्या के स्वर से अनिल चौंक उठा, उसमें व्यंग न था, कड़वाहट भी न थी, थी मृत्यु की सी शान्ति...एकान्त...मौन और नीरवता, ऐसी नीरवता जिसके आसपास जो कुछ भी पहुँच जाता है, एक बारगी मर जाता है, समाप्त हो जाता है। सन्ध्या ने बड़ी वीरता से वाक्य पूरा तो कर डाला, पर स्वयं उसके मुख का रंग फीका पड़ गया।

सन्ध्या... मिसिज मजूमदार उस दिन मीटिंग में गई थी। सभा हो न सकी, गोली चल गई और सन्ध्या जिस समय पागलों की भांति गोलियों के बाढ़ के बीच मजूमदार की ओर बढ़ी जा रही थी—कौन जाने रोष से अथवा तोष से, तब ही एक मजबूत कलाई ने सन्ध्या का सुन्दर गुलाबी हाथ थाम लिया। मुड़कर देखा जा नहीं सका और भीड़ के धक्के ने दोनों व्यक्तियों को कई गज खदेड़ डाला।

सन्ध्या अचेत सी हो रही। पूरे एक घण्टे बाद सन्ध्या एक दूसरे ही वातावरण में थी— एक मामूली मुसलमान शायद तांगे के कोचवान का घर था, बड़ी ही सुन्दर एक मुसलमान स्त्री गन्दे से कपड़े पहिने पास ही बैठी थी।

“मैं कहां हूँ ?”

“क्यों बहिन होश आ गया ?”

“तुम कौन हो ?”

“एक गरीब औरत।”

“मैं यहां कैसे आई ?”

“किसी तरह पहुँच गईं। मेरा मर्द आता ही होगा, जहां कहोगी पहुँचा आयेगा।”

स्वांग तो पूरा हो चुका था, किन्तु भण्डा तो फूटा तब, जबकि वह मर्द निकला— अनिल जिसे हजार मेकअप होने पर भी सन्ध्या की आंखों ने पहिचान ही लिया। शायद अनिल को भी यही डर था, पर भाभी से कुछ भी कहना उसने उचित न समझा। रास्ते में सन्ध्या ने सहज रोष से कहा—“अनिल, और कोई पेशा भी नहीं मिला था और कोई सभ्य समाज की लड़की भी नहीं।”

“काश ! कि वह मिल पाती, पर सन्ध्या वह मेरी भाभी है।”

“भाभी ?” सन्ध्या मानो आकाश से गिरी, पर तुरन्त ही सम्भल गई। अनिल ने भी धीरे-धीरे दो चार बातों को छोड़कर सन्ध्या को कुछ कुछ आभास दे दिया अपने काम का। सन्ध्या आधा घण्टा बिल्कुल चुप ही रही, फिर दृढ़ स्वर में बोली—“अनिल ! मैं भी तुम्हारे काम में सहयोग दूंगी।”

“तुम ? सन्ध्या तुम ??”

“आश्चर्य होता है क्या ? पर सन्ध्या सदा अन्धेरी ही तो नहीं होती । सूर्य की बुझती लालिमा, अन्तिम किरणें भी तो सन्ध्या का ही वरदान हैं, भले ही वह क्षणिक हों ।” अनिल को जान पड़ा जैसे किसी ने तानकर छाती पर घूसा मार दिया हो । लगाम हिल गई, घोड़ा ज़ोर से हिन-हिना उठा । अचानक धक्के से तांगे में सन्ध्या कठिनाई से सम्भल पाई ।

अपने आप से ही मानो स्वर किसी गहरे कूप में से आ रहा हो, अनिल ने कहा—“काश, यही कुछ वर्ष पहिले हो पाता ।”

सन्ध्या के पास उत्तर ही क्या था ? घर पास आ गया था ।

“बस, अब आज तुम यहीं से लौट जाओ । मैं तुम्हें परसों तुम्हारे घर पर ही मिलूंगी और फिर जैसी आज्ञा दोगे ।”

“सन्ध्या रानी आज्ञा दिया करती हैं, आज्ञा का पालन नहीं किया करती ।”

घाव कहां था, उसकी कसक कहां थी, किस जगह पीड़ा होती थी, यह सब कुछ सन्ध्या जानती थी—पर फांडा तो नासूर बन चुका था, उसका इलाज था ही क्या ?

सन्ध्या खूब थक रही थी, मन से भी और शरीर से भी, शायद आत्मा के अस्-पास भी उस थकान की कुछ रेखायें खिंच गई हों । वह वैसे ही बिना नहाये धोये, नाश्ता पानी लिये अपने कमरे में जाकर बिस्तर पर पड़ गई । घर भर में था ही कौन जो उसकी चिन्ता करता, उसे पूछता, उसके सूखे धूल भरे बालों में हाथ डालकर उसे दो-चार खरी खोटी सुनाता । सन्ध्या ने जीवन भर कभी किसी की एक बात नहीं सुनी थी, किन्तु आज उसे सचमुच किसी झिड़कियां न दे सकने वाले का अभाव कांटे की तरह चुभने लगा । उसे जान

पड़ा कि वह अपूर्ण है, शून्य है। हमें झिड़कियाँ-डांट अच्छी नहीं लगती, बस चलते हम उसका यथासम्भव विरोध भी करते हैं, किन्तु वही झिड़कियाँ, वही डांट-फटकार कब हमारे जीवन में—अभाव भरे जीवन में शून्य पूरक का स्थान ले बैठती हैं, सो हम जान पाते नहीं। उनका अस्तित्व दुःखदायी होता है किन्तु उनका अनास्तित्व भी कभी-कभी दुःखपूर्ण हो जाता है, यही घने आश्चर्य की बात है।

उधर अनिल के जीवन में एक घोर सन्भावित अचानक ही आगया। वह सन्तुष्ट था। कम से कम अपने दिल के साथ अत्याचार करने का उसे आज से अधिक कभी दुःख हुआ था नहीं। जब कभी हम अपने किसी कर्म के न कर पाने पर उसके होजाने से होने वाले कुफल का अन्दाजा लगा सकते हैं तो हमें सन्तोष होता है। हम पूर्ण विश्वास के साथ आँख-मुँह मटका कर मन ही मन कह पाते हैं भले बचे, किन्तु जहाँ भी कहीं और जब भी कभी हमें जान पड़ता है कि शायद यह अच्छा नहीं हुआ तो हम और भी अधिक घबरा जाते हैं, निराश हो जाते हैं। ठीक यही हाल अनिल का भी हुआ। आज दिन तरु वह सन्तुष्ट था। विश्व में शायद सब से अधिक प्यार उसने किया था सन्ध्या को और बरबस ठेल ठाल कर आज सब से अधिक विश्व भर में उसने अपने आप से दूर कर दिया था सन्ध्या को। फिर भी उसे सन्तोष था, उसे कोई दुःख न था, उसे कोई पश्चाताप न था क्योंकि उसे दिनोदिन विश्वास होता जा रहा था की उसने ठीक ही किया। सन्ध्या के दूर न कर देने पर, सन्ध्या उसके दोनों पैरों की बेड़ी बन जाती और वह जकड़ जाता, वह सोमित हो जाता किन्तु आज... आज जब कि उसे सन्ध्या का अरुण स्वरूप, उसकी तनिक सी झलक दीख पड़ी.....।

यह क्या ? सन्ध्या तो केवल मात्र तितली है नहीं, वह तो कुछ और भी हो सकती है, बन सकती है, बनाई जा सकती है। अनिल का

भरा भराया ज़ख्म फिर खुरच गया। अनिल का बड़ी जबरदस्ती से सुलाया हुआ स्वप्न एक बार अधखुली आंखों में जाग उठा। अनिल का बरसों का पुराना सोया हुआ दर्द तड़प उठा। तब क्या वह भूल थी ? तब क्या यह प्रतिकार है ? तब क्या उसने सन्ध्या की लालिमा कलुषित कर डाली ? मनुज के, किसी के भी जीवन को बनाना और बिगाड़ना हमारा नहीं भगवान का काम है, यही तो आज तक जाना और विश्वास किया था अनिल ने। किन्तु आज जीवन में पहिली ही बार उसे लगा कि उसने सन्ध्या के जीवन को एक अभूरी अपूर्ण कहानी सी बना कर छोड़ दिया है। थोड़ा बार-बार पथ भ्रष्ट होता था। अनिल को आगे अन्धकार सा दोख पड़ता था जो प्रकाश में लय होते होते एक ध्रुमाकार सन्ध्या की तस्वीर सी बन कर नष्ट हो जाता था।

अनिल किसी दिन भी भावुक नहीं था, किन्तु आज तो उसे जान पड़ा कि उसे मानो भावुकता, कोरी भावुकता चारों ओर से गुस कर नष्ट कर डालना चाहती है। अनिल की इच्छा हुई कि वह उस पुराने गन्दे सड़े घर में न जाये, लौट जाये सन्ध्या के पास..... वह भी तो अकेली है... बसन्ती भी अकेली है, विश्व भर की नारी आज अकेली है, अनिल की प्रतीक्षा कर रही है किन्तु घर क्या है ? घर पर ? वहां है भाभी ? वह नारी, जिसे अनिल की किसी दिन भी जरूरत नहीं थी, जिसकी आंख का एक बूंद आंसू किसी दिन भी अनिल सस्नेह पोंछ पाया नहीं, जिसके होठों की अस्फुट आह किसी दिन भी अनिल अपने दाहिने हाथ की अंगुलियों से बन्द कर पाया नहीं, जिसने कभी और कहीं भी तो कोई छिद्र ऐसा रखा है नहीं जिससे भीतर घुसकर अनिल भाभी के अन्तरतम जीवन में जा सके। यह नारी महीनों दिन-रात, शाम-दोपहर उसके साथ रही है, किन्तु कितना दूर है उसका वह चक्रव्यूह, जिसे अपने तरुण यौवन पूर्ण नारी शरीर के चारों ओर लपेट

कर यह नारी सहज ही पुरुष के निकट, अति निकट आकर भी उससे दूर-दूर अति दूर रह पाती है। नहीं, वहां नहीं जाऊंगा। वहां मेरा कोई भी तो नहीं है, कुछ भी तो नहीं है। सन्ध्या, भाभी, बसन्ती... यह सब ही तो नारी हैं, फिर इनमें इतना घना अन्तर क्यों ? अनिल के मस्तिष्क में यह तीनों नारियां घूमने लगीं, बारी-बारी से आने और जाने लगीं। इच्छा करके भी अनिल इनमें से किसी एक पर ही मन, प्राण टिका सका नहीं.....। सन्ध्या आज उसकी कोमलता को छूकर भाग गई थी। पुरुषत्व की भावना को, उसी भावना को जो वर्षों से सो रही थी, वर्षों से छिपी हुई थी, सन्ध्या ने आज जगा दिया था। अनिल का घोड़ा सरपट गति से चला जा रहा था—और साथ ही साथ प्राचीन स्मृतियां भी और नवीन भावनायें भी। उसी गन्दी सी गली में अनिल जा पहुँचा। छोटे से बड़बूदार आंगन में एक जमादारिन खड़ी थी। अनिल को भीतर आते देखकर उसने धीमे, पर तेजपूर्ण स्वर में कहा—“तुम्हारा काम हो गया ? अब मुझे जाना है, बड़ी देर लगी अनिल !” अनिल चौंक पड़ा, मानो चोरी पकड़ ली गई हो।

“हाँ, कुछ देर हो गई, तुम्हें कहां पहुँचा दूँ भाभी !”

भाभी उत्तर में मुक्तकण्ठ से हँस दी।

“सो तुम्हें करना नहीं पड़ेगा। अनिल मुझे आज नम्बर १३ में जाना है।”

“ओह, तुम्हारी वहां छ्यूटी है भाभी ? वह तो बड़ी खतर-नाक जगह है।” यह कहते-कहते अनिल स्वयं भ्रम में पड़ गया। ऐसा वाक्य इन लोगों के लिये निषिद्ध था, यह वह जानता था। उत्तर दिये बिना ही जमादारिन के रूप में भाभी दरवाज़े से बाहर चली गई। अनिल मरा मरा सा वहीं आंगन में एक टूटी चारपाई पर लुढ़क गया। न जाने कितनी देर बाद उठकर उसने सन्ध्या को पत्र लिख डाला। अनिल

का व्यक्तित्व भीतर और बाहर से फुंका जा रहा था, वह आज अपने भीतर का समस्त विष, समस्त उष्णता निकाल फेंकना चाहता था ।

जलती हुई रात

सन्ध्या !

क्या कहूँ जलो या सुखी रहो ?

तुमने सच ही कहा था— युग बीत गये दिल खोलकर बात-चीत किये हुये किन्तु आज यह इच्छा ही क्यों ? और क्या चाहती हो मुझसे, सन्ध्या रानी ? मेरे पास तो और कुछ भी अब शेष है नहीं । एक दिन जो कुछ, जितना कुछ भी मेरे पास था, सब ही कुछ मुक्तभाव से तुम पर उड़ेल दिया था, पर तुम्हें तो राजरानी बनना था, पटरानी बनना चाहती थी, चारों ओर से धन में डूब जाना चाहती थी । मैं तुम्हें रानी तो बना सकता था, किन्तु राजरानी, पटरानी बनाना मेरे बस की बात तो थी नहीं । जो कुछ मेरे पास था, मैंने उस दिन लुटा दिया, पर कहाँ ? तुम्हारी प्यास तो बुझी नहीं, तुम चाहती रही कुछ और...चाहती रही आज की पटरानी बनना और फिर तुम बन गई राजरानी । अब मुझसे और क्या चाहती हो ? माना कि मैं दीन हूँ, दरिद्र हूँ, अपदार्थ हूँ, पर तुम तो जानती हो, मुझे अपनी दीनता, अपनी दरिद्रता और अपना अकिंचन व्यक्तित्व कितना अधिक प्यारा है । तुम्हें मालूम है मुझे अपने चरणों पर सर्वस्व दे डालने की क्षणिक चाहना करने वालों का अभाव किसी दिन भी नहीं रहा । किसी दिन भी मुझे अपने चारों ओर का वातावरण अपने स्नेही जनों से खाली नहीं मिला । इसी भय से तो मैं उन्हें मीठी मुस्कान देकर भी सदा अपने से दो हाथ दूर ही रखता रहा कि कहीं वह मेरे अकिंचन व्यक्तित्व को लेकर मेरे हृदय को ठेस न पहुँचा दे । माना मेरा व्यक्तित्व विश्व

संसार के कई प्राणियों के सामने शून्य तुल्य है, फिर भी तुम तो जानती थी कि मैंने किसी दिन भी गौण होना जाना नहीं है। द्वितीय होकर रहा नहीं हूँ, आज फिर झूठ कैसे स्वीकार कर लूँ। पति की हिन्दू स्त्री होकर भी तुम कहती हो कि तुम्हारे मन में आज भी मैं प्रथम हूँ, किन्तु मैं तुम्हारी कृपा का यह दान.....अधिकार से छीना हुआ नहीं, कृपा का दिया हुआ दान स्वीकार ही क्यों करूँगा। आज भी तुम्हें अभिमान नहीं करने दूँगा। सत्य ही यह जीवन की मेरी सबसे बड़ी भूल थी, सबसे बड़ी हार थी। न जाने किन दुबल क्षणों में मैंने तुम पर एकान्त विश्वास किया था, किन्तु आज भी मैं तुम्हें अपने व्यक्तित्व को गौण करने का अभिमान न करने दूँगा, तुम जिन्हें चाहो मुख्य स्थान दो, पर गौण रिक्त स्थान भरने के लिये तुम्हें और विश्व में चाहे जो भी मिल जाये, अनिल तो न मिल सकेगा। अनिल को आज उसकी चाह रह नहीं गई है। वह आज भी शून्य है, पर उस शून्य को भर पाने की इच्छा भी तो अब उसमें है नहीं। आज तुम्हें विश्व में बहुत से और भी काम हैं। उन सबके बीच शायद इतना लम्बा पत्र पढ़ने की सुविधा न हो और मुझ पढ़वाने की इच्छा भी नहीं है। न पढ़ना चाहो तो न पढ़ना, मुझे किसी दिन छेड़ना भी नहीं। जिसे एक बार दफ़ना चुका हूँ आज उसे उखाड़ कर लाने की चेष्टा व्यर्थ है और तुम्हें उखाड़ कर मिलेगा भी क्या ? जो है ही नहीं आज मेरे पास, जिसे तीव्रता की, निराश उष्णता की, कठिन उदासीनता की ज्वालायें युगों तक धीरे-धीरे जला कर गला कर नष्ट कर सकी हैं, भस्म कर चुकी हैं, उसे आज बीच-घसीट कर तुम जो जीवित कर देना चाहती हो, वह क्या सत्य है ? मैं जानता हूँ तुम्हारा मुझ पर सहज मोह है और हो भी क्यों न ? मानव स्वभाव भी तो कुछ ऐसा ही है। वह सहज ही सहज प्राप्त अधिकार को छोड़ना चाहता नहीं। जो प्राप्त है,

जो अपना है वह ठीक है। किन्तु जिसे अपना कह सकने योग्य बल मन में नहीं रह गया है, उसे भी मनुष्य पराया बनने देना नहीं चाहता है। मैं जानता हूँ यह उसकी कमी है, यह उसमें कमजोरी है फिर भी वह चारों ओर के अपने वातावरण को घेर घोट कर अपने में भर लेना चाहता है और नारी तो और भी अधिक लोभी होती है। इसी दृष्टि से शायद तुम एक दिन बरबस मुझसे दूर होकर भी मुझे अपने मोह में लिप्त रखना चाहती हो। यदि यह सत्य ही हो तो महारानी जी ! यह जान रखो कि अनिल किसी प्रकार भी उस मोह के जाल में फँस कर तुम्हारे चरणों से लिपटा नहीं रहेगा। अनिल की दुनियाँ माना कि सूनी है, पर वह शून्य को तुम्हारे थोथे दान से भर कर मूर्खता का नक्राब लगाये हुये संसार के सम्मुख पूर्णता का स्वांग नहीं करेगा। वह ऐसा नहीं कर पायेगा, ऐसा करने से पूर्व वह लज्जा से डूब न मरेगा ? यह भी सम्भव है कि तुम अपनी भरी-पूरी दुनियाँ में ऊँचे-ऊँचे बैठ कर दीन-हीन अनिल पर अपनी कृपा का अमृत बरसा डालना चाहती हो। तुम्हें किसी दिन मुझसे मोह था ही, शायद उसी अतीत के मोह की स्मृति स्वरूप आज वर्तमान में भी उस कृपा के मोह के शव की छाया मेरे जीवन पर आज भी डाल देना चाहती हो, किन्तु मैं वह स्वीकार करूँगा ही क्यों ? मैं तो कुछ छिपाना चाहता ही नहीं। जान बूझकर मेरा सब-कुछ तुम्हारे निकट स्पष्ट है, खुला है, दीख रहा है। तुम्हें मालूम है कि मैं आज भी भूखा हूँ, उसी तरह जिस तरह वर्षों पूर्व था, आज भी मैं शून्य ही में बस रहा हूँ, फिर भी यह सब कुछ मेरा स्वभाव बन चुका है। कृपा और दान ग्रहण करने की क्षमता आज भी मुझमें नहीं है, किसी कारण से भी नहीं है। तुम कहोगी, अवश्य कहोगी। अभिमान से नहीं, विश्वास, पूर्ण विश्वास से कहता हूँ—तुम कहोगी कि यह सब-कुछ कृपा नहीं है, है केवल स्नेह, एक

मात्र प्रेम, किन्तु मैं इसे मान ही लूँगा—क्या ऐसा ही तुम्हारा विश्वास है ? यदि ऐसा है तो तुमने अनिल को किसी दिन भी नहीं समझा । लोक-मर्यादा के बीच जिसे स्वीकार करके तुम गर्व से सिर उठा नहीं सकती, जो कुछ तुम सात-पाँच व्यक्तियों के बीच आंख की ओट किये बिना दे नहीं सकती, उसे भले ही विश्व ब्रह्माण्ड में और कोई स्वीकार करले— अनिल तो कभी कर सकेगा नहीं, यह ध्रुव निश्चय जानना निसिद्ध सन्ध्या मजूमदार ! कुछ तुम्हें चोट पहुँचाने को नहीं लिख रहा हूँ । यह यह सत्य ही है, नितान्त सत्य, वह सत्य जिसका आदि और अन्त दोनों एक ही हैं । न जाने क्यों मैंने आज तुम्हें सब कुछ ही लिख डाला है । वह सब कुछ जो किसी दिन भी मेरे भीतर पड़ा जा सकता है । इससे आधिक और किसी दिन यहां कुछ भी न पढ़ सकोगी, यह सत्य समझो । मेरा मार्ग जो कुछ भी है कष्टकाकीर्ण है अथवा मुक्त समुनाच्छादित, यह बात यहीं तक रहने दो । पर तुम किसी दिन मेरे निकट कृपा का दान देने, मुझे दया करके गौण स्थान पर बिठा देने मत आना । क्योंकि ऐसा प्रयत्न करने पर तुम्हें अपमान के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ लगेगा नहीं ।

यही तो और बस—

तुम्हारा नहीं, कहूँगा यही ।

समझ लो, आज का कोई एक—

पत्र लिखकर अनिल ने मानो मन का समस्त भार बाहर निकाल फेंका । उसने पत्र को दुबारा पढ़ा नहीं, आँखें गीली भी नहीं हुईं और वह उठकर छोटे से आंगन में टहलने लगा । बसन्ती... .. वर्षों पूर्व की अपरिचित दुर्बल पीली मोह भरी नारी बसन्ती आज उसके सम्मुख आ खड़ी हुई । अनिल को जान पड़ा—जैसे आज उसे अपने भीतर के कठिन घने अभाव की पूर्ति के लिये बसन्ती की आव-

शय्यरुता है। भाभी ! उसके अभावपूर्ण शून्य को भरने का साधन नहीं है, वह स्वयं पूर्ण है, दृढ़ है, कठिन है। उसका महत्व लता न बन कर वृक्ष बनने में है, वह विश्व भर को जला कर भस्म कर सकती है। किन्तु किसी एक भी अतृप्त होठों के जोड़े को गीला करने तक सीमित नहीं रह सकती, यह उसका काम नहीं है। वह विद्युत्, क्षण भर में जला डालने की क्षमता रखने वाली विद्युत् है। और सन्ध्या— सन्ध्या— सन्ध्याकाल की मस्ती में हल्के हाथों से बगीचे में टहलते हुये किसी एक वृक्ष से तोड़कर क्षण भर को सूँघ कर कोट के बटन में कुछेक क्षण लगाये रखकर फेंक देने वाला फूल है। उसमें सुरभि है, मद है, गन्ध है, रूप है किन्तु स्थायित्व नहीं है और शान्ति भी नहीं है। वह मदभरी बोतल तो है किन्तु उसका नशा क्षणिक ही है ना ? और मायामयी बसन्ती.....अनिल की आँखें गीली हो गईं.....। दुःखिनी बसन्ती विश्व में उसकी सबसे अधिक अपनी है। पति परित्यक्ता...बच्चों की माता, माया-मोह से लिप्ता बसन्ती को आज उसे अपने निकट बड़ी भारी आवश्यकता जान पड़ी—पर कहाँ ? वह भी तो उससे कितनी दूर है। नहीं वह किसी से भी पायेगा नहीं, उसे किसी को भी आवश्यकता नहीं है। अनिल के भीतर एक तीव्र इच्छा मिश्रित ऐंठन सी हुई। उसका जी चाहा कि वह रिवाल्वर के एक ठाँय के साथ अपने दिल की धड़कन सदा के लिये शान्त कर दे, पर वह इस समय चारपाई पर पड़ा था—उठा नहीं, द्वार खुला ही था। इसी समय भाभी भीतर आ गईं, रात्रि के चार बज गये होंगे।

“कीन भाभी ?”

“हाँ, अभी जाग रहे हो ?” स्वर भारी माया-ममता से भरा सचमुच ही नारी का स्वर था मानो एक मां अपने नन्हे से बच्चे से पूछ रही थी। अनिल की इच्छा हुई कि इसी नारी की गोद में सिर देकर

जोर से रो उठे, पर हिम्मत नहीं पड़ी ।

“नींद नहीं आई ?” उसने कहा, स्वर गीला सा था ।

“छोः, क्रान्तिकारी को नींद का अभाव ।”

तब क्या वह मनुष्य नहीं है । क्रान्तिकारी मानव नहीं होते क्या ? उनके हृदय में इन्सान का नन्हा सा दिल दिन-रात नहीं धड़कता क्या ? उनके मस्तिष्क में विचारधारा सदा एक ही भांति बहती रहे क्या ?

“क्रान्तिकारी भी मनुष्य ही होते हैं भाभी !”

“पर उन्हें मनुष्य नहीं होना चाहिये अन्नू !” भारी प्यार से भाभी ने कहा—“यदि वह साधारण मनुष्य ही रह गये तो फिर उनका महत्व ही क्या रहा ?”

“तुम ठीक कहती हो भाभी ! उन्हें अपनी समस्त मानवीय कोमलताओं को बरबस गला घोटकर मार डालना चाहिये और यदि वह ऐसा न कर सके, ऐसा करते हुये यदि किसी दिन उनका तनिक सा भी हाथ कांपे तो उन्हें क्रान्तिकारी पथ पर चलना ही नहीं चाहिये...। ठीक है ना ?”

“तुम बड़े ही उत्तेजित हो उठे हो ?” कहकर भाभी ने कमर पर रक्खे टोकरे का भार एक कोने में डालकर अनिल के सिरहाने बैठ कर, उसके सिर पर अपना कोमल शीतल हाथ रख दिया । अनिल को जान पड़ा—युग-युगान्तर का शुभाशीर्वाद उसके मस्तिष्क पर एक साथ ही बरस पड़ा....., कोई कोमल, शीतल मक्खन का पिण्ड उसके सिर पर रख दिया गया । अनिल की इच्छा हुई कि उस श्वेत, कोमल चिकने हाथ को उठाकर चूम ले— पर वह शान्त ही रहा, भाभी ने धीरे-धीरे हाथ उसके सिर पर फिराना आरम्भ कर दिया । अनिल सोच रहा था—क्या यह युवती है, क्या यह नारी है । रात्रि

के घने अन्धकार में एक युवती नारी को पुरुष के इतने अधिक निकट बैठकर भी क्या मातृत्व अपने सहज पवित्र आवरण से ढक कर इतना सुरक्षित कर देता है। यह जानती है कि मैं.....मेरा मन उतना पवित्र नहीं है, फिर भी यह साधारण स्त्रियों की भांति भागती नहीं फिरती, छुपती नहीं फिरती—यहां तक निकट, अति निकट बैठते हुये घबराती भी नहीं, कितना दृढ़ आत्म-विश्वास है इसका।

उधर भाभी कह रही थी—“जानती हूँ अनिल ! सन्ध्या का तुम्हारे जीवन में पुनः प्रवेश तुम्हारी मानसिक शान्ति के लिये शुभ नहीं है, फिर भी भइया यदि तुम अग्नि-परीक्षा में पूरे न उतर सके तो तुम्हारा महत्व हो क्या रहा ? सन्ध्या तो आज तुमसे कुछ चाहती नहीं है, वह बिचारी लड़की तो आज तीन लोक में किसी से भी कुछ चाहती नहीं.....। मजूमदार से किसी दिन भी उसका कोई देना न था, तुमसे वह भरपाई लिखवाकर तुम्हें छुट्टी दे चुकी है। अब नया व्यवहार चलाना चाहती हो सो बात नहीं है, फिर भला तुम क्यों उत्तेजित होते हो ?”

“भाभी ! तुम भूलती हो, वह अब भी मुझे ठगना चाहती है, वह बड़ी भारी मायाविनी है, भाभी वह मुझसे न जाने अब चाहती क्या है ?”

भाभी हंस पड़ी —“तुम पुरुष अपने आप को बहुत बड़ा नारी-मनोविज्ञान का पण्डित समझते हो, पर देखती हूँ— तुम्हारा ज्ञान उस दिशा में बिलकुल ही अधूरा है। सन्ध्या ने किसी दिन तुमसे कुछ लेना चाहा था, किन्तु उस दिन उसे मिल तो सब कुछ गया पर वह उसे सहज भाव से ग्रहण करने योग्य अपने आपको बना नहीं पाई। आज आंचल पसार कर उसी अपनी ठांकर से बिखरी हुई वस्तु को अंगुलियों की पोरी से चुन कर उठाने सन्ध्या आयेगी— यह भ्रम किसी दिन भी न

करना। जो सन्ध्या वैसा कर सकती थी, आज को सन्ध्या तो वह सन्ध्या है नहीं ?

“तब क्या आज का निमन्त्रण.....इस समय का आदान धोखा है, असत्य है भाभी ?”

“नहीं, सो बात भी नहीं है। नारी निमन्त्रण नहीं दिया करती, आह्वान भी नहीं किया करती, वह तो केवल मात्र निमन्त्रण स्वीकार करती है, सो भी कभी कभी.....। सन्ध्या इच्छा करके भी तुम्हारा निमन्त्रण किसी दिन भी स्वीकार कर पाई नहीं, यद्यपि उसने फिर विश्व भर में किसी का भी निमन्त्रण स्वीकार किया नहीं। अब आज गतबेला में वह लौट कर वहां पहुँच नहीं सकती, जहां से एक बार वह इच्छा अथवा अनिच्छा लौट गई है। यह वह खूब जानती है, धोखा भी वह तुम्हें देना चाहती नहीं। सिर्फ वह अपने आपको समझ पाती नहीं।”

“तब क्या उसने मजूमदार के साथ भी एक थोथा खेल ही नहीं खेला है, भाभी ?”

इस बार भाभी थोड़ा सा विचलित पाने लगी अपने मन को। हाथ अनिल के माथे पर कांप गया, फिर भी एक क्षण बाद भाभी ने उत्तर दिया—“नहीं, मजूमदार स्वयं ही शून्य था, उस शून्य के रिक्तस्थान को सन्ध्या ने आगे बढ़कर मन-प्राण से भरने का प्रयत्न करके धोखा दिया हो, सो बात नहीं। वह तो दौड़ रही थी—तेज़ी में ठीक से देख सकी नहीं, बीच में था रिक्त स्थान। वह रिक्त स्थान में गिर गई और वह खाली जगह भर गई। यह क्या धोखा हुआ अनिल ?”

अनिल ने अनजाने बूझे ही भाभी का कोमलतम स्थान छू दिया। “भाभी ! यदि तुम मजूमदार की पहली पत्नी होती तो क्या इसी प्रकार सहज भाव से सन्ध्या को क्षमा कर पाती। उसे ही

अपराधिनी मान कर विश्व भर का समस्त पाप-भार उसके माथे ही न मढ़ देती ?”

इस बार भाभी बड़ी देर तक चुप बैठी रही। शायद आँखें भी बेतरह गीली हो उठी। बड़ी देर बाद उन्होंने धीरे-धीरे डूबते से स्वर में कहा—“जो अभागी किसी दिन सचमुच का स्नेह पाकर किसी व्यक्ति के जीवन को पूर्णरूप से अभावशून्य कर न सकी, उसे पूर्णतया भर न सकी, उसे उस व्यक्ति को दोष देने का अधिकार मिला ही कहां है जो उस शून्य को भर पाता है, उस अभाव को मिटाने का प्रयत्न कर पाता है। मजूमदार की पहिली पत्नी अभागी थी और सन्ध्या शायद दुःखिनी है।”

कुछ देर दोनों ही चुप रहे। भाभी चुपचाप अनिल के गर्म मस्तक पर अपना शीतल हाथ फिराती रही और अनिल उस शीतल हाथ की शीतलता को चुपचाप लेटा लेटा मन-प्राण से पोता रहा। वह सब कुछ ही पी जाना चाहता था, छोड़ना तनिक भी नहीं, कुछ भी नहीं।

भाभी कुछ ठहर कर कहने लगीं—“अनिल सन्ध्या पर क्रोध न करो, इतना भारी अभिमान भी उस पर न करो। वह तो स्वयं बड़ी ही दुःखिनी है, स्वयं अपने अभिमान से जली जा रही है। भइया ! उस पर और अधिक अभिमान का भार लाद कर क्या करोगे और तुम्हें स्वयं भी तो शान्ति मिलेगी नहीं ?”

“मैंने तो किसी दिन भी सन्ध्या पर अभिमान किया ही नहीं, मेरा वैसा अधिकार ही कहां है ?” अनिल ने सूखे से स्वर से कहा।

“यही तो सब से अधिक अभिमान की बात है, अनिल ! तुम उसके ऊपर क्रोध करते, उसे भला-बुरा कहते, दो चार कठिन शब्द कहते, तब तो सब कुछ साधारण ही न हो जाता ? वह सब

कुछ तो तुम उस पर अपना अधिकार बरबस जमा कर कहते ना ? और उससे तुम स्वयं तुच्छ हो जाते । किन्तु वैसे तो तुम हो नहीं । एक बारगी उस पर से अपना समस्त अधिकार उठा कर ही तो तुमने उस पर सब से अधिक अत्याचार किया है—अभिमान किया है ।”

“शायद ऐसा हो हो ।”

“ठीक ऐसा ही है । तुम उसके विवाह के प्रांतः उसे जाकर कहते—सन्ध्या यह विवाह न होगा । मैं यह विवाह न होने दूंगा, या यह मेरी आज्ञा नहीं है, मुझे यह पसन्द नहीं है, तो सन्ध्या शायद दो-चार कठोर शब्द कहती, क्रोधित होती, लड़ती, पर विवाह फिर वह न हो सकता । तुम बरबस उस पर अधिकार जमाते तो । सन्ध्या किसी प्रकार भी तुम्हारी, तुम्हारे अधिकार की, तुम्हारी इच्छा की अवहेलना न कर पाती । कर सकती ही नहीं, किन्तु तुमने तो उसे कोई आज्ञा दी ही नहीं, कभी कोई इच्छा भी जतलाई नहीं, कभी क्रोध भी किया नहीं, वरन् उसे अपने स्नेह-बन्धन से एक क्षण में मुक्ति दे दी । यही तो नारी चाहती नहीं । अब आज दिन उस पर क्रोध करने का तुम्हें अधिकार ही कौन सा है”

“भाभी !”

“ठीक कह रही हूँ, अनिल ! तुम एक दिन भी यदि सन्ध्या के सामने खड़े होकर उससे कह देते कि देखो सन्ध्या तुम मेरी हो, तुम्हें मेरे मार्ग पर चलना हो पड़ेगा, मैं तुम्हें खींच घसीट कर ले ही चलूंगा तो सन्ध्या झुल्लाती चाहे ऊपर से, शायद क्रोधित भी होती, किन्तु मन ही मन तुम्हारे अधिकार को किसी दिन भी अस्वीकृत न करती, उसकी अवहेलना भी न कर पाती । उसे वह सब कुछ अच्छा ही लगता, किन्तु तुम्हारी एकान्त उदासीनता, अधिकार उठा लेने की भावना ही तो उसे आज दिन सबसे अधिक चुभ रही है अनिल !”

“इतना गम्भीर मनोविज्ञान कहाँ से सीख पाई हो, मेरी नन्ही भाभी !” अनिल ने धीमे से स्वर में कहा ।

“तुम्हीं लोगों से तो भाई...अच्छा अब तुम शान्त हो । मैं बहुत ही थकी हुई हूँ, कुछ देर सो लूँ ।” भाभी उठ खड़ी हुई ।

“तुम्हारा आज का काम ?”

“हां, सफल हुआ, किन्तु है तो विध्वंस ही, उसमें शान्ति कहाँ ? किसी दिन निर्माण कर सकें तो शायद शान्ति मिले । आज तो विध्वंस ही विध्वंस चारों ओर दीख पड़ता है ।” और भाभी भीतर की कठिन, तपती कोठरी में रात भर के भयानक परिश्रम से थक कर सोने चली गई ।

अधिकार

:: २१ ::

“जिन कन्धों पर दुर्दिन मैं भी कभी किसी ने कोई दुःसह भार डाला ही नहीं, उन्हें भारवहन का आभास होता भी तो कैसे बहिन !”

“सब ही काम अभ्यास और अनुभव से सीखे जाते हैं, ऐसा तो कोई सृष्टि का नियम है नहीं ।”

“सो बात नहीं कहती, पर न जाने क्यों एक बार विश्व भर से विद्रोह करने की इच्छा होती है । किसी का भी भारवहन करने की इच्छा होती ही नहीं ।”

“ भारवहन करने की इच्छा नहीं हुआ करती, वह तो विधाता

जिन कन्धों पर बरबस भार लाद ही देते हैं, उन कन्धों को उसे खींच-घसीट कर ले चलना ही होता है ।”

“ हां, और वह भार मेरे कन्धों पर लादना विधाता भूल ही गये ।”

बसन्ती के होंठ उत्तर देने को खुले, किन्तु सन्ध्या के मुख की ओर देखकर खुले ही रह गये । इस बार सन्ध्या की आंखें जल सी उठी थीं । उसकी छाती में मानो किसी ने मुग्धर सा मार दिया था । वह जल उठी थी—आद्योपान्त ।

“ और चाहे जिस क्षण इच्छानुसार विधाता वह भार शायद उतार भी लिया करते हैं ?”

बसन्ती से सन्ध्या का निष्ठुर व्यंग छिपा न रहा, किन्तु उस समय सन्ध्या पर क्रोध कर सकने योग्य दर्द मानो प्रयत्न करके भी बसन्ती अपनी छाती के भीतर न भर सकी । दोनों ही पति परित्यक्ता थीं किन्तु सन्ध्या के परित्याग में दर्द था, पर लाचारी नहीं, जब कि बसन्ती के परित्याग में केवल लाचारी थी और थी असहाय जलन । सन्ध्या को किसी दिन भी जिस व्यक्ति से प्रेम नहीं हुआ था, किसी दिन भी वह जिसे अपना नहीं समझ पाई थी, उसी को ठोकर मारनी पड़ी थी । जब कि बसन्ती ने प्रेम किया था, प्रेम जाना था—आज दिन भी वह न तो पति को सर्वाङ्ग रूप से क्षमा ही कर पाई थी और न उस पर उसका क्रोध ही था । अनेकों बार उसकी इच्छा होती थी कि उसी पुराने द्वार से प्रविष्ट होकर अपनी सन्तान के जनक के सम्मुख जाकर खड़ी हो जाये । उन्हें स्पष्ट शब्दों में कह दे—“ देखो, इस घर में प्रविष्ट होने के लिये मुझे तुम्हारी आज्ञा लेनी ही पड़ेगी, ऐसा भी कहीं हो सकता है ? मुझे यह अधिकार कुछ समाज ने ही दिया हो सो बात तो है नहीं । समाज से भी जो बड़े हैं वही इस घर की मान-

प्रतिष्ठा का भार मेरे कंधों पर देकर निश्चित बैठ गये हैं ।”

पर वह ऐसा नहीं कर पाई, किसी दिन हिम्मत पड़ी नहीं । यद्यपि सन्ध्या का दिया हुआ अन्न उसके शरीर में दिन-रात घुभता था । अभी उसी दिन अनिल उसे अपने घर ले जाना चाहता था, पर दुर्बल मन-प्राण लिये बसन्ती यही कह सकी—“कुछ भी हो, कोई भी नारी के लिये पति-पुत्र छोड़कर कहीं भी जाकर रहना क्या उचित है ?”

अनिल ने कहा था—“हमारी भाभी तो ऐसा नहीं कहतीं बहिन ! जान पड़ता है उन्हें पति-पुत्र की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं होता है ।”

बसन्ती हंस पड़ी थी । उसने कुछ भी कहा न था, किन्तु उसकी दृष्टि से स्पष्ट जान पड़ता था कि उसे अनिल की तत्कथित भाभी और उनके व्यक्तित्व के भीतर के सत्य में काफी सन्देह है ।

आज सन्ध्या के व्यंग ने बसन्ती के भीतर की नारी को सजग कर दिया । बसन्ती सन्ध्या से भय भी खाती थी फिर भी इस बार उसने तीव्र स्वर में उत्तर दिया—“भार लादा तो जा सकता है, किन्तु जीवन रहते उसे उतार सकने की सामर्थ्य भला किसमें है ।”

सन्ध्या कुछ अन्यमनस्क सी थी । बोल न सकी, किन्तु बसन्ती को इतने से ही सन्तोष न हुआ, उसने फिर कह ही तो दिया—“जो भार लादने की क्षमता रखते हैं, उनकी ओर हाथ उठाकर धन्यवाद दे सकने की शक्ति भी तो उन्हीं में हांती है जो कि कभी किसी दिन भार ढो सके हों ।”

बसन्ती ओझी नहीं थी । अकारण किसी को जलाना भी उसे प्रिय न था, किन्तु आजकल तो वह स्वयं ही कुछ चिढ़ी-चिढ़ी सी रहती थी । सन्ध्या न जाने कैसी होती जा रही है । प्रायः घर से बाहर ही रहती है, किन्तु जिस समय घर रहती भी है तो प्रायः बसन्ती से कुछ

भी बातचीत नहीं होती। बसन्ती को ऐसा लगने लगा था कि वह सन्ध्या, जो कि उसे प्रेम से घर रखने को तैयार हो गई थी—आज की सन्ध्या से भिन्न है। इस सन्ध्या का उस सन्ध्या से कहीं कोई भी तो सामञ्जस्य है नहीं। इसको वह अपना ही अपमान समझकर मन ही मन जली-भुनी जा रही थी। दूसरी ओर यदि एक क्षण के लिये भी बसन्ती सन्ध्या के जीवन की तह तक पहुँचकर देख पाती तो उसे स्पष्ट ही पता लग जाता कि वहाँ एक निरन्तर सुलगने वाली भट्टी सी जल रही है। उसमें कुछ ऐसी कटु ज्वालायें भरी हुई हैं जिनका न आदि है और न अन्त।

सन्ध्या की मानसिक अवस्था किसी कारण से भी किसी को कटु उत्तर देने की न थी। वह सहज भाव से पूरी तरह से ध्यान दिये बिना ही कह उठी—“बसन्ती हो सकता है कि एक मानव का भाग्य दूसरे मानव के भाग्य से भिन्न हो, किन्तु दोनों कब कहाँ किस दिन जाकर एक हो जायेंगे—कौन कह सकता है।”

“भविष्य दोनों का भले ही एक बन जाये, किन्तु वर्तमान का महत्व तो भिन्न-भिन्न रहेगा ही और वही जब कि एक की पूंजी बन जाता है तो दूसरे के इहलोक के समस्त दुःखों का कारण बन जाता है।”

“हूँ”, मन ही मन सन्ध्या कह रही थी—“मेरे जीवन में भी एक दिन वैसा आया था। विधाता ने मुझ पर भी एक दिन किसी का भार लादा था, किन्तु कब और कहाँ, वह दिन बरबस मैंने ढकेल-ढकाल कर बिदा कर दिया—यह कौन जाने?”

सन्ध्या की आंखों से गर्व की ज्योति तो कभी की खो गई थी। आज वहाँ थी गम्भीरता, परास्त होने की सी लज्जा। बसन्ती फिर और न बोली, किन्तु उसी दिन रात्रि होने से पूर्व उसने सन्ध्या से

कहा—“सन्ध्या मैं घर जाऊंगी ।”

अन्यमनस्क सन्ध्या कह उठी— “कहां, कौन से घर ?”

“उसी घर जहां मेरा अधिकार है, जो मेरा घर है ! स्वामी अपमानित करके निकाल भले ही दें किन्तु मेरा अधिकार नहीं छीन सकते ।”

सन्ध्या का मस्तिष्क शून्य था । तर्क भी उसे विचित्र सा ही लगा, फिर उसने बिना विरोध किये एक छोटी सी “अच्छा” ध्वनि कर दी । बसन्ती का मन लोभ से भर गया । सन्ध्या शायद यही चाहती थी सोचा बसन्ती ने । किन्तु सन्ध्या सोच रही थी यह नारी, परित्यक्ता होते हुए भी आज सौभाग्यवती है, क्योंकि यह पतित्व के अधिकार का दावा लेकर खड़ी हो सकती है आज दिन भी । और मैं परित्यक्ता न होते हुए भी वह दावा एक दिन भी जीवन में कर पाई नहीं । सन्ध्या को दूसरे दिन प्रातःकाल ही अनिल के साथ नदी पार जाना था, वहां अनिल की भाभी, सारे दल की कोई एक भाभी रहती है, वह उसे दल के कार्य की शिक्षा देगी, अपने मन्त्र की दीक्षा देगी और फिर सन्ध्या जीवन का नया क्षेत्र चुनेगी ।

सन्ध्या प्रसन्न थी, वह सोचती थी कि आज उसने अपने लिये स्वयं ही यह मार्ग चुना है, किन्तु यदि वह क्षण भर को मन की भीतरी अचेतन तह खोल कर देख पाती तो लज्जा से, आत्माभिमान की लज्जा से भर जाती । वह आज देश-भक्ति के पथ पर चलेगी, इसीलिये तो कि वह अनिल का मार्ग है । हाथरे नारी का झूठा अभिमान ! आसमानी साड़ी के नीचे धड़कता हुआ नारी का साधारण सा हृदय ।

रात्रि का अन्धकार गूढ़ होते न होते योगेश घर आ पहुँचे । इस बार योगेश कई मास पश्चात् घर आये थे । आन्दोलन की हल-चल, काम की अधिकता और गृह-जीवन की कठोरता ने उनके मुख को

आभा छीन ली थी। योगेश इस बार सीधे अपने कमरे में न जाकर, पहुँचे सन्ध्या के कमरे में। सन्ध्या को उनका आगमन कुछ आकस्मिक सा ही लगा, फिर भी वह शान्त रही।

“आ गये ?”

“हां, दस दिन की छुट्टी लेकर आया हूं, तुम्हें देखने को बहुत जी चाहता था।”

“अच्छा किया, यहां भी बहुत अकेला सा लगता था।” कह कर सन्ध्या स्वयं हो कुछ भेंप सी गई। जिसे अन्धकार की रेखाओं को भीतर और बाहर लेकर ही जीवन बनाना पड़ता हो, वह भी अकेलेपन की शिकायत करे। फिर भी योगेश प्रसन्न हो उठा।

“सन्ध्या ठीक यही बात मैं भी रात-दिन सोचा करता था। सचमुच तुम्हें यहां अकेले छोड़कर मेरा चला जाना ठीक न था।”

आवश्यकता से अधिक दूर तक पहुँच जाना भी तो सन्ध्या के लिये सझ न था।

“ना, ना, सो बात तो नहीं है। यूँ ही कह रही थी—वैसे मुझे कोई कष्ट थोड़े ही था, आखिर काम पर तो मनुष्य को जाना ही पड़ता है।”

पति-पत्नी के बीच का इतने दिनों का मनोमालिन्य कुछ घुलता हुआ सा जान पड़ा, पर यह सब कुछ क्षणिक था। दूसरे दिन प्रातः काल की मलय समीर के बीच जब अनेकों नाले नदी पार कर सन्ध्या अपनी छोटी सी मोटर में पकरिया पुल पर पहुँची तो अनिल वहां पहिले से टहल रहा था।

“ओह, वेलकम, तो तुम आ गई ?” अत्यधिक प्रसन्न होकर उसने कहा। सन्ध्या ने उसकी दृष्टि में देखी निर्मल प्रसन्नता। कुछ वैसी सी चीज़ जो कि उसने कल रात को योगेश की दृष्टि में नहीं पाई

थी, वहाँ थी कुछ याचना जैसी और यहाँ था मानो अधिकार का दावा ।

“देर तो नहीं हुई ?”

“नहीं, पर तुम आई कैसे ? योगेश तो कल आ गये हैं ।”

सन्ध्या की छाती में मानो किसी ने धूँसा मार दिया । तो क्या योगेश को छोड़कर दुनिया के सारे मार्ग उसके लिये बन्द हो चुके हैं ? पर आज उसे लड़ना तो न था ।

“उन्हें सोता छोड़ आई हूँ । अभी वह उठे ही न थे ।”

“सो ही तो” व्यंग ध्वनि सी खटकी सन्ध्या के कानों में । पर तब तक सन्ध्या अपनी सलवार, कमीज़ तथा बारीक चुन्नी से सुसज्जित देह घोड़े पर चढ़ा चुकी थी । दूसरा घोड़ा लेकर अनिल साथ चल दिया, कार वहीं रहने दी गई । वहीं से थोड़ी दूर जाकर बीहड़ जंगल में झाड़ू झाड़ों के बीच रास्ता बनाकर दोनों एक अत्यन्त साधारण सी कुटिया के द्वार पर पहुँचे । सन्ध्या बहुत थक गई थी । उसके माथे पर पसीने की बूँदें झलक रही थीं, हाथ का सहारा देकर अनिल ने सन्ध्या को नीचे उतारा । भीतर घना सन्नाटा था, कुछ अन्धेरी सी कोठरी में दोनों ने प्रवेश करते ही देखा—एक साधारण सी धोती पहिने एक अत्यन्त प्रतिभाशालिनी दुर्बल सी रमणी को, अनिल ने भाभी के चरणों में सिर रख कर प्रणाम किया । देखा-देखी सन्ध्या ने कुछ दूर ही दूर खड़े रह कर प्रणाम कर डाला ।

“बैठो बहिन !” उस दुबला लम्बी सी स्त्री के स्वर में झन्कार था ।

एक घण्टे पश्चात् जब दोनों लौट रहे थे तो अनिल ने पूछा—
“कैसी लगी हमारी भाभी सन्ध्या ?”

“अद्भुत हैं । नहीं तो तुम्हारी भाभी कैसे हो पाती ।”

अनजाने ही सन्ध्या का एक झोठा सा निश्शब्द वायु में विलीन हो गया ।

“बसन्ती कल चली गई अनिल !”

“ठीक ही हुआ, श्रीधर भाई साहब का उनके बिना गुज़र ही कहां था ?”

“पर क्या परित्यक्ता का फिर उस घर में जाना आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचाने वाला न होगा ?”

“स्नेह आत्म-सम्मान नहीं जानता । बसन्ती दीदी जितना शायद ही किसी ने किसी को प्रेम किया होगा । वास्तव में यही तो उनका सच्चा स्वरूप है । स्वामी के निकट जाकर उनके चरणों पर सिर रख कर दीदी छोटी नहीं हो सकेंगी, महान् ही हो उठेगी—यह जान रखना ।”

सन्ध्या कट सी गई, उनका जी चाहा कि घोड़े से उतर कर अनिल के चरणों में सिर रख दे, पर कहां ? वह सम्मानी सिर कहां झुक सकता था । उसने मन ही मन पूछा—“और मेरा सिर कहां झुकना चाहिये ?” उसके हृदय में भाभी की पतली कठिन स्वर-लहरी गूंज उठी—“जहां सचमुच के अधिकार का दावा नहीं चल सकता, वहां झूठ-मूठ का अधिकार दिखाकर स्वयं अपने आपको अपनी दृष्टि में किसी दिन भी छोटा न करना ।” बात तो किसी और प्रसङ्ग से कही गई थी, पर सन्ध्या को लगा मानो भाभी उसकी दयनीय अवस्था पढ़ कर उसके व्यक्तिगत जगत को लेकर ही यह कह गई । सन्ध्या घोड़े से उतर पड़ी, अनिल चढ़ा ही रहा ।

“तुम्हें पहुँचाने जाना न होगा, क्यों ?” फिर स्वयं ही उत्तर देने के से भाव से कहने लगा—“मुझे अभी बसन्ती दीदी के पास जाना है और फिर.....।”

सन्ध्या ने बीच में ही बात काटकर कहा —“हां, सो ही तो, फिर कहीं और..... फिर कहीं और, और फिर कहीं और, सो सब-कुछ तुम्हें सुनाने की कोई आवश्यकता नहीं है, तुम जा सकते हो अनिल !”

“तुम अप्रसन्न हो गई क्या सन्ध्या ? लो मैं चलता हूँ । उधर से ही तो जाना है, अच्छा है कार की सवारी ही मिलेगी ।” मनाने के से भाव से अनिल ने कहा ।

“नाराज होने का अधिकार ही मुझे कहां है साहब ! सचमुच ही आपको साथ ले जाने में मुझे यह सुविधा न होगी । नमस्कार ।” कार चल दी । अनिल एकटक सन्ध्या की कार का द्वार बन्द करती हुई लम्बी, पतली अंगुलियों की ओर देखता रह गया ।

“तुम नारी हो, छलना हो अथवा छाय़ा हो, कौन कह सकता है ।” कहा अनिल ने और पिया एकान्त वायु ने । अनेकों वर्षों बाद आज उसे मानो फिर से जान पड़ा कि वह मन-प्राण से सन्ध्या को, केवलमात्र सन्ध्या को ही प्यार करता है, किन्तु उसे प्रेम करने का अधिकार ही कहां है, उसने सोचा ।

सन्ध्या सोच रही थी—क्या मैं सदा इसी प्रकार निरुद्देश्य इस लम्बी सी सड़क पर एकान्त भाव से चलती रहूँगी । मेरी यात्रा का न और होगा और न छोर यही तो.....। यही क्या मेरी यात्रा का रहस्य होगा ? एकान्त रहस्य.....। सन्ध्या गुन-गुनाने लगी—
“पथ भिन्न मेरा नाविक सुषुप्त, जाना है मुझको आज पार.....”

“अनिल” उसने मानो अपने आप से कहा—उत्तर कहां था ? पर सन्ध्या मानो प्रतिध्वनित हो उठी थी ।

विचित्र

:: २२ ::

“यदि मैं तनिक भी इस प्रकार की कल्पना कर सकता तो यह काण्ड ही न होने देता, भाभी !”

“सो ही तो ।”

“किन्तु मेरी समझ में जो नहीं आता, वह यह है कि तुम जैसी बड़ रमणी इस अभागे से किस कारण सहानुभूति रखती हो ? यह तुम्हारा है कौन, एक देशद्रोही से एक देशभक्त की प्रीति कैसी ?”

भाभी की आँखें झलझला आईं, किन्तु अनिल सो देख न सका । कोठरी में आवश्यकता से अधिक अंधेरा था, नीचे सीलन और बदबू भी थी । आस-पास की दीवारों से जान पड़ता था—मानो चूना समस्त ही नीचे आ गिरेगा । अनिल बोलता ही गया—“स्वामी जी सुनेंगे तो उन्हें विश्वास ही न होगा कि तुम अपने समस्त कार्य-क्रम को तोड़ कर एक देशद्रोही के घृणित प्राणों की रक्षा कर पाने के लिये व्याकुल हो रही हो ।”

“कहीं योगेश को जिला कर कुछ सरकार से इनाम पाने का लोभ तो नहीं हो आया है भाभी ? ऐसा करने का स्वप्न देखने पर भी याद रखना भाभी, योगेश का इनाम पाने से पूर्व ही अनिल के रिवाल्वर की गोली तुम्हारे सीने से पार होगी ।”

“अनिल ! जो भी कुछ कहो, मुझे सब सुनना स्वीकार है,

किन्तु तुम्हारी भाभी को किसी दिन भी न तो प्राण भय ही हुआ है और न धन-लोभ ही, यह बात आज फिर से तुम्हें समझानी पड़ेगी क्या ?”

“सो मैं जानता ही हूँ, फिर भी आपका एक यही काम समझ में नहीं आता भाभी !”

“इसे समझने का प्रयत्न न करो अनिल ! यह विश्वास रखो कि तुम्हारी भाभी कभी कोई अनुचित काम नहीं करेगी ।”

“किन्तु अनुचित और उचित की व्याख्या भी तो सब लोगों की एक सी होती नहीं है ।”

“हो सकता है—उचित की व्याख्या मेरी निजी ही हो, किन्तु उससे किसी दिन भी तुम्हें किसी के सामने मेरा परिचय अपनी भाभी कह कर देते हुये लज्जा से सिर झुकाना नहीं पड़ेगा ।”

“इस समय जाता हूँ, तुम्हारी आज्ञा की अवहेलना कर सकूँ—सो शक्ति मुझमें नहीं है, जब तक आज्ञा करोगी इस प्राणी के पथ्य-पानी की व्यवस्था जिस तरह से भी हो करता ही रहूँगा, किन्तु यह जान रखना भाभी कि यह सब मैं अपनी इच्छा के विरुद्ध ही कर रहा हूँ ।”

“सो मैं जानती हूँ भइया !” अनिल उस अन्धेरी कोठरी से निकल कर कहीं बाहर के अन्धकार में विलीन हो गया । धुँये से काली हो रही चिमनो वाली लालटेन का प्रकाश कम और धुआँ ही अधिक था । भाभी कमरे के अन्तिम भाग में रखे हुये एक पलंग की ओर अन्धकार में दृष्टि गड़ाये हुये स्थिर सी बैठी रही । इस बार उनके शरीर पर, उज्ज्वल शरीर पर एक अधफटी मैली सी धोती थी । आँखें कई-कई रात लगातार जागने से डूब सी रही थीं । वह स्वयं भी विचारधारा में डूबी हुई सी थी ।

‘अनिल पूछता है— यह तुम्हारा है कौन ? मैं स्वयं अपने आपसे पूछती हूँ, यह मेरा है कौन ? कोई भी तो नहीं.....मेरा इनका.....सम्बन्ध ही क्या है ? कह दूँ कि यह मेरे इहलोक के इस शरीर के स्वामी हैं । ...नहीं, सो भला कैसे होंगे यह मेरे स्वाामी...। नहीं.....नहीं.....हो सकता है कि मैं इनकी दासी हूँ, किन्तु यह मेरे स्वाामी क्योंकर हो सकेंगे । इन्होंने तो मुझे कभी किसी दिन भी समझने का प्रयत्न किया नहीं, मुझे स्नेह दान दिया नहीं, फिर भला यह किस दावे से आज मेरे स्वाामी हो सकेंगे, किन्तु मैं...मैं तो मन-प्राण से अपने आपको इन्हें अर्पित कर चुकी हूँ । मेरे तो इहलोक में सुख-दुःख के केन्द्र यही हैं, फिर भी मैं इनसे कतनी दूर हूँ । जाने दो, अनिल कुछ भी समझे, गुरु महाराज कुछ भी विचार क्यों न करें, विश्व में.....किसी को भी दिन के प्रकाश में मैं अपने आपको इनकी पत्नी कहकर, परिचय देकर इन्हें आखें नीची करने के लिये बाध्य करूँगी नहीं ।’

अन्धेरी सी कोठरी के एक कोने में अंगीठी पर चाय शायद चढ़ी हुई थी । पानी उबलने लगा और ढकने को पीछे ढकेल कर स्वयं बाहर आ जाने का भी भरसक प्रयत्न करने लगा । पानी गिरने के शब्द ने भाभी को जगा सा दिया । उन्होंने उठकर ढक्कन उठाकर चाय की पत्तियाँ डालकर पतीली उतार ली और दूध चढ़ा दिया । भाभी सोचने लगीं— “मेरी भावनायें, मेरे हृदय के भीतरी भाव, मेरा जीवन भी क्या इस उफनते हुये पानी की भाँति ही नहीं है ? यह उबलता है या उबला था.....उफना था और फिर डूब गया अतल में, गहरा गहरा चला गया.....सदा के लिये । किसी दिन भी किसी ने उसे उतार कर शान्त करके उसका उपयोग करना चाहा नहीं.....। वह बहा और बहता ही चला गया ।” भाभी की

इच्छा हुई कि अनिल को बुलाकर एक बार कह दे—“देखो भइया !
 पूछते हो, मेरा इनसे कौनसा सम्बन्ध है ? वही ना, जो इस पानी...
 पतीले के पानी का इस अग्नि से है.....। अग्नि पानी को उबाल
 डालती है, बहा देती है किन्तु वही तो बस और कुछ भी नहीं
 कुछ भी नहीं.....तनिक भी नहीं। काश कि यही काली अन्धेरी
 कोठरी हमारा... ..हम दोनों का.....।” भाभी आगे सोच न
 सकीं। हम दोनों की कल्पना ही उसे मस्तिष्क में जलती हुई सी जान
 पड़ी.....। “क्या यह भी कभी सत्य हो सकता है, हो सकेगा ? नहीं,
 नहीं.....ऐसा कभी नहीं होता, कभी नहीं होता.....।” रोगी
 ने कष्ट से...बड़े ही कष्ट से डूबते हुये मे स्वर में आह ली। भाभी
 ने उठकर बड़े धीरे से करवट बदल दी, सिर में गहरी चोट थी.....
 रोगी प्रायः अचेतन था ..। सिर, आंख ,और मुख सभी ठका हुआ
 था पट्टियों से। यूं भी दुबली, पतली भाभी के लिये उस स्वस्थ
 लम्बे-चौड़े शरीर को करवट दिलाना कुछ आसान न था, फिर भी
 उन्होंने बड़ी आसानी से रोगी को .रवट दिला दी। परश्रम से वह कुछ
 थक सी तो गई, यूं भी प्रायः कितनी रातें जागते बीती थीं, फिर भी
 वह शान्त ही थीं। दूध भी गरम हो गया। भाभी ने चाय बनाकर
 चीनी मिलाई और फिर उसे दो गिलासों में डाल कर पीने योग्य ठण्डी
 भी कर ली। फिर धीरे-धीरे फीडिंग कप में डाल कर रोगी को अचे-
 तनावस्था में ही प्रायः आधे से अधिक कप पिला भी दिया, तत्पश्चात्
 भाभी स्वयं अपने लिये चाय बनाने लगीं— कुछ अन्यमनस्क सी भी
 थीं, थोड़ी सी चाय उड़ल कर उनके हाथ पर भी जा पड़ी, किन्तु
 उनका इधर ध्यान न था, शायद चाय पीने की ओर भी न था। यन्त्र
 की तरह उन्होंने किसी तरह चाय गले के नीचे उतारी और तुरन्त ही
 उठ खड़ी हुई। घड़ी पर दृष्टि डाली— प्रायः नौ बजने ही वाले थे।

भला उन्हें अब जाना जो था, दवा भी लानो होगी और सो भी स्वयं अपने आपको सबकी दृष्टि से बचाकर । भाभी कमरे अथवा कोठरी के पीछे के अधिकाधिक अन्धेरे घर में चली गई । बड़ा गहरा अन्धकार था कोठरी के बाहर भी और शायद भाभी के मन के भीतर भी । अन्धकार से जब वह लौट करके धुंधले से प्रकाश में आई तो प्रायः वेशभूषा ही दूसरी थी । अच्छी खासी एक साधारण किसी भद्र गृह की कहारी सी जान पड़ती थी । आंखें तो पहिले से ही कुछ डूबी हुई थी, अधिक काजल लगाने से कुछ और डूब गई । रंग भी कुछ सांवला सा दीख रहा था, फिर भी नैनों की उज्ज्वल ज्योति वैसी ही स्वच्छ थी । भाभी बाहर पैर रखने हो वाली थीं कि अनिल पहुँच गया ।

“भाभी ! तुम्हें मुझ पर विश्वास न था क्या, जो स्वयं बाहर निकल पड़ीं ? जानतो तो हो— इसी दुष्ट के साथी मित्र, सेवक आज तुम्हारी जान के बेतरह ग्राहक हो रहे हैं । उनकी दृष्टि में पड़ना क्या अत्यन्त आवश्यक हो उठा है तुम्हारे लिये ?”

इस बार सचमुच भाभी हंस पड़ीं ।

“भइया अनिल ! तुम तो भाभी को लेकर इस तरह व्यस्त हो जाते हो मानो वही सब-कुछ हों । अरे भाई, तुम्हारे स्नेह की दुनियां रं बाहर तो तुम्हारी भाभी का मूल्य कानी कौड़ी भी नहीं है ।”

“हां, और उसी कानी कौड़ी को पकड़ पाने के लिये शहर भर की पुलिस व्यस्त हो उठी है ।”

“जाने दो, सो बातें अब न कहूंगा । पर जाओ, कुछ औषधि की व्यवस्था तो कर दो । देखो भाई, कुछ देर पूर्व ही आ जाते तो मैं अपनीयह दुर्गति क्यों करती.....।”

“देखो भाभी ! यदि चाहो तो मुझे दोष भले ही दे लो, पर

दुर्गति तो तुम अपनी स्वेच्छा से करती हो, नहीं तो विश्व भर में कहीं कोई तुम्हारी ओर उंगली भी उठा सके—इतनी सामर्थ्य भी किसी में है नहीं।”

इस बार भाभी ने उत्तर नहीं दिया। सम्भवतः अनिल को उत्तर पाने की अभिलाषा भी न थी, वह चुपचाप बाहर निकल गया। और भाभी उसी स्थान पर बैठकर ग्रन्थकार में मानो कुछ देख पाने का प्रयत्न सा करने लगीं, बाहर बिल्कुल सन्नाटा था—शान्त, नीरव, चुपचाप।

पति

:: २३ ::

“बसन्ती अपने साथ मेरी तुलना करके अपने महत्व को कम न करो।”

“सो कैसे ?”

“तुम्हारे पास तो फिर भी किसी दिन की पूँजी थी, जिसका सम्बल लेकर तुम परित्यक्ता रूप में भी पति के द्वार पर जा कर खड़ी हो सकी, जिसके बल पर तुमने पति की सम्मान का हाथ पकड़ कर उसे एक बार बतलाया कि उनकी जननी के बिना उनके पिता का जग सूना है, किन्तु मेरे पास वह सम्बल नहीं है। इसी कारण मैं स्वतन्त्र, बिल्कुल स्वतन्त्र.....मृत्यु के सन्नाटे की तरह स्वतन्त्र हूँ। यही तो।”

“यह तुम्हारा कोरा अभिमान है सन्ध्या ! उसी की झोंक में तुम सोचती हो कि तुम स्वतन्त्र हो । आज कितने दिन हो गये पति का समाचार तक मिले हुए, किन्तु तुम्हें रात दिन अपने कामों से ही फुरसत नहीं मिलती, यहां तक कि तुम अपने पति का समाचार तक नहीं मँगवा पाती ।”

सन्ध्या हँस पड़ी बड़े जोर से, फिर तुरन्त ही गम्भीर हो गई । “बसन्ती यह मेरा अभिमान नहीं, मेरी दीनता का खुला प्रकाशन है, मुझे अपनी स्वतन्त्रता पर अभिमान नहीं है । मैं जानती हूँ वह कुछ ऐसी प्रलोभनीय वस्तु है भी नहीं । आज जो तुम मेरी पति की ओर से इतनी अधिक उदासीनता पर उपालम्भ देने आई हो, उसी के समाधान में मैं तुम्हें बता रही थी कि मेरे पास तो कुछ भी ऐसा है नहीं जिसे लेकर मैं उस व्यक्ति के निकट खड़ी हो सकूँ जिसे कि संसार मेरा पति कह कर मानता है, और जब ऐसा कुछ भी मेरे पास नहीं है तो मैं झूठ मूठ आँख पर कपड़ा रख कर ढोंग क्यों करूँ । जानती हूँ घर बाहर सब आश्चर्य करते हैं, हँसते हैं, और समझते हैं मुझे एक विलासी, हृदयहीन, वैभव-प्रिय स्त्री । जब कि मैं शान्ति के दो क्षण पाने के लिये क्लब में चली जाती हूँ, तो मैं कहलाती हूँ विलासिनी, किन्तु किसी ने कभी भी मेरे अशान्ति के अनेकों क्षण पलों की गणना की है ?”

“किन्तु तुमने आखिर कुछ तो मजूमदार में देखा ही होगा, वैवाहित जीवन के इतने दिनों में कुछ तो उससे पाया होगा, वह आज न जाने विश्व में है भी अथवा नहीं फिर भी तुम्हारे हृदय में न कुछ व्यथा है, न चिन्ता और न घबराहट ।”

व्यङ्ग से मुस्करा कर सन्ध्या ने कहा—“यदि कभी कुछ पाया होगा तो निश्चय ही” उससे कहीं अधिक उन्हें दे चुकी हूँ । मेरा और

उनका हिसाब पाई पाई चुकता है। बसन्ती ! जिस प्रकार तुम लोग आज की जमा में कल का लेन-देन लगाती चलती हो, उस प्रकार का व्यापार मैं नहीं करती। मेरे निकट न किसी का कुछ देना है और न पाना है, इसी से तो मैं इतनी निर्लेप हूँ।”

कुछ देर तक दोनों ही चुप रहीं, फिर सन्ध्या स्वयं ही कहने लगी—“बसन्ती ! मैं यदि उनका समाचार लेना भी चाहूँ तो उसके लिये क्या करूँ ? इतना बड़ा साम्राज्य जिसके कि वह नौकर थे, उनका समाचार पाने को उत्सुक हैं, खोज कर रहा है, फिर भी जान नहीं पाता, तो भला मैं ही और क्या कर लूंगी।”

“यह तो एक पत्नी के मुख की बात है नहीं।”

“सच ही नहीं है। यह तो केवल एक मित्र के मन की या बुद्धि की बात है।”

“अच्छा, तो अब चलूँ और भी कई काम निबटाने हैं।”

“चलो, तुम्हें छोड़ती चलूँ—मुझे भी आज कहीं जाना है।”

“क्या दिन भर बाहर का ही प्रोग्राम है ?”

“हां, और सम्भवतः रात को भी न लौटूंगी।”

बसन्ती कुछ चिन्तित हो उठी—वह उठ खड़ी हुई। सन्ध्या ने मेज़ पर से बटुआ उठाया। बसन्ती अत्यन्त दुःखित स्वर में कहने लगी—

“तुम्हारे रंग-ढंग कुछ ठीक नहीं हैं, सन्ध्या !”

सन्ध्या केवल उत्तर में मुस्करा दी।

“तुम मुस्करा कर आज मेरी बात टाल सकती हो, किन्तु किसी दिन तुम्हें यह मानना पड़ेगा रानी, कि मेरी आज की बात बिल्कुल ठीक थी।”

जोने से उतरते हुये सन्ध्या ने कहा—“सो तो मैं आज भी मानती हूँ कि ठीक ही है, किन्तु इससे अधिक और कुछ भी नहीं कर पाती हूँ।”

“ठीक” बसन्ती फिर बोली। कार के दर्पण में पड़ती हुई सन्ध्या की सुन्दर मुख-छवि की ओर देखती हुई बसन्ती सोच रही थी—“कैसी विचित्र है यह नारी, स्वयं इतनी अधिक स्वात्माभिमानिनी दीख पड़ती है, किन्तु मैंने जब पति के चरणों में झुक कर अपना समस्त आत्माभिमान बहा दिया तो इसने एक बार भी निन्दा न की, मुझे प्रोत्साहन ही दिया, बढ़ावा ही दिया। स्वयं पति के चरणों में किसी दिन झुकी नहीं और आज अचानक पति के गायब हो जाने पर इसे न चिन्ता है और न विषाद और न किसी और प्रकार को कष्टदायक भावना की अनुभूति। यह सरल है अथवा कुटिल, सरस अथवा शुष्क, अभिमानिनी अथवा मूर्ख कुछ जान नहीं पड़ता। फिर भी जान पड़ता है इसके इस विचित्र व्यक्तित्व को भी मैं प्यार ही करती हूँ।” बसन्ती का हृदय इस पति-वञ्चिता की ओर से स्नेह और सहानुभूति से भर उठा।

उतरने से पूर्व उसने सन्ध्या से कहा—“दो चार मि.ट को यहां भी उतर पड़ो ना। गुटू रोज मौसो-मौसी की रट लगाया करती है।” सचमुच ही बसन्ती के बच्चों से सन्ध्या का घनिष्ट स्नेह सम्बन्ध था और सबसे छोटी लड़की तो उससे बहुत ही हिली हुई थी। सन्ध्या ने कुछेक क्षण सोचा और फिर कार में से चाभी निकाल कर उतर पड़ी।

“चलो, बाल गोपाल को देखे बिना कहीं यशोदा को प्रसन्न किया जा सकता है ?”

इस बार बसन्ती सरल भाव से हंस पड़ी। घर में प्रवेश किया ही था कि अनिल दीख पड़ा। सन्ध्या की दृष्टि अचानक ही कठोर हो उठी, पर तुरन्त ही दृष्टि में दीनता से भर गई। अनिल से श्रीधर का सम्पर्क हो गया था। बसन्ती अब पहिले से भी अधिक इस घर की

हां गई थी। श्रीधर ने भी अनिल को बहुत कुछ अपना लिया था। घर में उसके आने जाने पर भी कुछ प्रतिबन्ध न था। एक भयङ्कर सी टक्कर ने सब-कुछ ठीक कर दिया था। सन्ध्या ने सम्भवतः अनिल को आज यहां देख पाने की आशा नहीं की थी। अनिल ने सन्ध्या का उत्साह से स्वागत किया। “आइये, आइये ! आपकी बड़ी उमर है। मैं यही सोचता आ रहा था— अभी कि दीदी के घर ही यदि सन्ध्या जी भी मिल जायें तो मेरी सड़क इन्सपेक्टरी कुछ कम हो जाये।” कहने के ढंग पर बसन्ती और सन्ध्या दोनों ही हंस पड़ीं।

“अच्छा, दीदी ! कुछ खाने-पीने का प्रबन्ध करो, तब तक मैं जरा सन्ध्या जी से दो-चार बातें कर लूं।”

बसन्ती सहज भाव से भीतर चली गई। सन्ध्या बरामदे में रक्खी हुई एक कुर्सी पर बैठ गई। अनिल ने दूसरी बेंत की कुर्सी सम्भाल ली।

“क्यों, आज फिर कोई काम है क्या ?”

“हां, काम तो बहुत बड़ा है और है भी बड़ा भयङ्कर, फिर भी करूंगा ही। क्योंकि जिनकी यह आशा है उनके सम्मुख ‘न’ कह सकने की शक्ति मेरी है नहीं।”

सन्ध्या की आंखें जल उठीं। मस्तिष्क की नसें तक झनझना उठीं, फिर भी वह शान्त ही रही। उत्तर न पाकर भी अनिल विचलित न हुआ, वरन् एक सांस में अत्यन्त धीमे से स्वर में कहता गया—

“तुम्हारी थाती तुम्हें सौपनी है सन्ध्या !”

“मेरी थाती ? कौन सी थाती ?”

अनिल मुस्करा दिया।

“पहेलियां न बुझाओ, इसकी मुझे आदत नहीं है और न इसके लिये मेरे पास समय ही है। क्या देना चाहते हो मुझे, कह न डालो।”

“मजूमदार !”

सन्ध्या लगभग चिल्लाने लगी थी, पर संयत हो गई। दोनों ही लगभग पांच मिनट चुप रहे। इसी बीच नौकर आकर दोनों के बीच एक छोटी मेज़ पर चाय के बर्तन लगा गया। अब सन्ध्या को मानो चेतना आई।

“अनिल ! मेरी थाती तुम्हारे पास है अवश्य, किन्तु उसे लौटा सकना तुम्हारे वश की बात नहीं है। रही मिस्टर मजूमदार की बात—सो उनका घर है, लौट आये। वह स्वयं भी एक उत्तरदायित्व पूर्ण पदधारी व्यक्ति हैं, वह भला थाती क्यों कर होंगे।”

अनिल इस बार कुछ विचलित हो गया। उसके होंठ तक कांप उठे.....बातचीत बन्द हो गई, मन भारी हो गया। इसी समय बसन्ती के बच्चों ने आकर वातावरण को सरल हास्यमय बातचीत से भर दिया। बसन्ती स्वयं भी कमरे में आगई। खाना पीना आरम्भ हुआ, किन्तु सब कुछ मानो थोथा सा, फीका सा जान पड़ता था। अनिल की तो दृष्टि बुझ ही सी गई थी। यहां तक कि कुछ देर से पहुंच पाने पर भी श्रीधर ने तुरन्त ही पूछा—“क्या बात है मिसिज़ मजूमदार, कुछ अस्वस्थ सी जान पड़ती हैं।” संसार भर की अवज्ञा, निन्दा के बीच एक व्यक्ति जो सदा ही सन्ध्या की ओर स्नेह और अपनत्व भरी दृष्टि से देख पाता था वह था श्रीधर। यद्यपि सन्ध्या कभी भी उनके सहज अपनत्व को समझ पाई नहीं—उसका महत्व भी जान पाई नहीं।

साधारण शिष्टाचार की दृष्टि से सन्ध्या ने उत्तर दिया—
“नहीं तो, मेरा स्वास्थ्य तो ठीक है। कुछ थक सी गई थी।”

“सुबह सुबह आप कहीं गई थीं क्या ?”

“नहीं, गई तो कहीं नहीं। रात को कुछ देर से सोई थी, सो ही थकावट कुछ बाकी है।”

“मजूमदार साहब का कुछ पता लगा ?”

“लगा ही जायेगा, आशा तो है।”

“कहां से ?” बड़ी उत्सुकता भरे स्वर में पूछा— एक साथ श्रीधर और बसन्ती ने। सन्ध्या को अपनी गलती स्पष्ट दीख पड़ी, वह तुरन्त ही उठ खड़ी हुई।

“सो सब पूरा समाचार मिल जाने पर आप लोगों को सर्व प्रथम बतलाऊंगी। आप से अधिक अपना मेरा यहां और है ही कौन ?” अन्त तक पहुँचते-पहुँचते स्वर सचमुच ही भीग उठा था। शायद सन्ध्या और अनिल दोनों ने ही जाना नहीं, पर श्रीधर और बसन्ती मानो करुणा से गल उठे।

श्रीधर ने अत्यधिक सरलता से कहा—“सो तो है ही बहिन, हम लोग तो आपके बिल्कुल अपने ही हैं।”

“मैं भी अब चलूँगा। मिसज मजूमदार ! आप मुझे सदर तक पहुँचा सकेंगी ?”

अनिल ने पहिली ही बार सन्ध्या से कुछ चाहा था, प्रार्थना की थी। सन्ध्या को जान नहीं पड़ा कि क्या उत्तर दे। यह अनिल तो सन्ध्या के बार-बार कहने पर भी कभी उसकी कार में बैठना चाहता न था, फिर आज यह अपने आप प्रार्थना क्यों ? फिर भी सन्ध्या ने सहज भाव से कहा—“चलिये।”

“यह लो तुम भी चले अनिल। मैं तो सोच रहा था— आज ज़रा तुमसे बातचीत करके छुट्टियों का एक दिन आनन्द से बिताऊँगा।”

“कितने दिन की छुट्टियाँ ली हैं भइया ?”

“तीन ही तो दिन हैं।”

“ओह, कुछ अधिक होने पर मैं आपको सलाह देता कि बहिन को कहीं वायु परिवर्तन के लिये ले जायें।”

“और हां, वह भी आजकल मार-काट के दिनों में। ना बाबा ! तुम्हारी बहिन और बहिन के भइया जैसा साहसी तुम्हारी बहिन का पति तो है नहीं।”

कहने के ढंग पर सब खिल-खिला कर हंस पड़े— वातावरण की गम्भीरता कुछ कम हुई और सन्ध्या तथा अनिल बाहर निकल आये। सन्ध्या ने कार चलाने का उपक्रम करते हुये पूछा—“सचमुच सदर चलोगे ?”

“कहां ले जाना चाहती हो ?”

अनिल अपने आप को न जाने आज क्यों खो डालना चाहता था। सन्ध्या भी कुछ अस्त-व्यस्त सी ही थी।

“चाहने से ही क्या तुम चल सकोगे ?”

“यदि ले जाने वाला हाथ थाम लेने की क्षमता रखता हो।” कार तारकोल की चमचमाती सड़क पर चल दी थी।

“वह क्षमता अब बिला गई है भूत के गर्भ में।” एक गहरी सांस लेकर सन्ध्या ने कहा।

“प्रयत्न करके भी आज क्या उसे लौटाया नहीं जा सकता ?”

“शायद नहीं।”

“प्रयत्न तो कर देखो।”

“विश्व में हाथ थाम कर ले जाने वालों का अभाव नहीं है।”

“तब सदर ही ले चलो।”

“अच्छा” सन्ध्या ने धीरे से कहा।

किन्तु कार की तीव्र गति का लक्ष्य अब भी सदर के मार्ग की

और न था। कार बेग से उड़ी जा रही थी। दोनों ऊपर से सर्वथा शान्त थे, किन्तु दोनों के ही हृदय में भीतर ही भीतर अन्धड़ चल रहे थे।

“हाथ थमा देने पर क्या तुम आँखें मूंद लोगे अनिल ?”

“वैसा क्या हो सकेगा सन्ध्या ?”

“विश्व में क्या एक बार मिटा देने पर फिर लिख सकना सम्भव नहीं है ?”

“हूँ” इस बार पीठ की गद्दी पर सिर टिका कर आँखें मूंदे अनिल शान्त हो गया।

सन्ध्या कार का स्ट्रैयरिङ्ग ढील सम्भाले हुए तो थी किन्तु स्वयं न जाने किस विश्व में चली जा रही थी। सारा दिन बिता कर जब शाम को अनिल सहित सन्ध्या घर लौट रही थी तो उसका मन और अधिक अशान्त हो रहा था।

“तुम क्या किसी दिन भी क्षमा न कर सकोगे अनिल ?”

“सन्ध्या, मैं स्वयं अपने आपको क्षमा नहीं कर पाता। आज सारे दिन तुम्हारे सामीप्य का आनन्द भी पूरी तरह उठा सकना मेरे भाग्य में था नहीं। तब ही तो किसी प्रकार भी मैं अपने आपको क्षमा नहीं कर सका। किसी दिन कर सकूँगा इसकी भी आशा नहीं है।”

“फिर कहा क्यों था कि किसी का हाथ थाम कर आँख मूंदे चल सकता हूँ।”

“वैसी इच्छा तो अवश्य है सन्ध्या रानी।”

“और उसी इच्छा पर आज सारे दिन मेरा बलिदान करते रहे अनिल।”

“तुम्हारा बलिदान रानी ? नहीं, नहीं सो कैसे कर सकूँगा। तुम्हारी प्रसन्नता पर विश्व का.....जाने दो, अब नहीं कहूँगा.....

.....असल में मैं स्वयं अपने को समझ नहीं पाता हूँ । जान नहीं पाता हूँ । सचमुच ही मैं बहुत मूर्ख हूँ, बहुत दीन हूँ सन्ध्या ।”

“सो शायद सब ही मनुष्य होते हैं अनिल । मनुष्य दुर्बलताओं का आगार है, यही सोच कर किन्हीं क्षणों में अपने आपको भी क्षमा कर पाती हूँ, अन्यथा.....।”

“आज हम दोनों ने ही मूर्खता की । खैर कल योगेश को तुम्हारे पास छोड़ जाऊंगा । यदि तुम चाहो तो मेरे अपराधों का सहज ही दण्ड दे सकती हो । तुम्हारे एक संकेत पर मेरा इहलोक का मार्ग बन्द हो सकता है । योगेश को छुपा रखना कुछ साधारण बात नहीं है ।”

सन्ध्या लगभग पन्द्रह मिनट चुप रही, सन्नाटा खींचे । उसकी आंखें भरी आरही थी । सड़क साफ थी, अन्यथा दुर्घटना हो जाना कोई आश्चर्य की बात न थी । हाथ उठाकर आंखें पोंछ डालने की दुर्बलता भी नहीं दिखा पाती थी ।

“मुझसे तुम यह आशा कर सकते हो अनिल ?”

“शायद हां, शायद नहीं ।”

“और प्रमाण देकर अपने आप को छोटा नहीं करूंगी ।” सन्ध्या सम्भवतः कुछ और भी कहना चाहती थी, पर उसने बरबस होठों को बन्द ही किये रखा । दोनों ही ने आज का दिन पूर्णतया नष्ट किया, फिर भी दोनों के मन भारी थे । अनुभव कटु था, और हृदय शून्य सा ही था । उधर भाभी अचेतन प्रायः योगेश मजूमदार की ओर आज सारे ही दिन एक टक देखती रही । उसे अचेतनावस्था में घर पहुँचाने की व्यवस्था की गई थी, इसीजिये अचेतन किया गया था । किन्तु आधी रात हो जाने पर भी जब अनिल उसे ले जाने

के लिये आया ही नहीं तो भाभी स्वयं भी दिन भर की भूखी प्यासी योगेश की चारपाई पर सिर टिका कर सो रही ।

उधर बहुमूल्य पलंग पर कोमल गद्दों पर लेटी सन्ध्या सोच रही थी— “कल इस घर का स्वामी यहां होगा । मुझे उससे तनिक भी स्नेह न होते हुये उसकी सेवा करनी होगी । मैं समाज की, धर्म की दृष्टि से उसकी पत्नी हूं । और यह कौन है अपरिचिता नारी भाभी, जो मेरे सुहाग की रक्षा के लिये इतनी व्याकुल है ।” रात में कई बार सन्ध्या रोई... ..कई बार उठकर खिड़की तक गई, बाहर झांका और लौट आई, किन्तु सो न सकी । अरुणदेव ने भी तो सन्ध्या की खुली आंखों में ही प्रवेश किया । इसीलिये तो प्रातः सन्ध्या की आंखें बीरबहुटी की तरह लाल हो रही थी ।

कृतज्ञता

:: २४ ::

“सचमुच ही मैं वह जगह नहीं जानता, किन्तु आपकी सहायता पाते ही कहीं न कहीं मैं उस स्थान को ढूँढ अवश्य निकालूंगा ।”

“उन्होंने तुम्हें इतने दिन तक कैदी रखा, मार क्यों न डाला, यही एक बात मैं समझ नहीं पाता हूं, मिस्टर मजूमदार ।” एस० पी० ने कुछ चिन्ता से कहा ।

“यही मैं भी नहीं समझ पाता साहब ! फिर भी यह सब कुछ सोचने की न मुझे फुर्सत ही है और न उसके लिये मैं उत्सुक ही हूँ । इस समय तो मेरी इच्छा यह जान पाने भर की है कि मैं किस प्रकार इस रहस्यमय दल का उन्मूलन कर सकूँगा ।”

“अच्छा, कल सुबह तक सब प्रबन्ध हो जायेगा ।”

“तब मैं सन्ध्या को ही उस खोज में लग जाऊँगा ।”

मजूमदार प्रसन्न मन से हाथ मिलाकर बाहर निकले । साहब मजूमदार की कार के शब्द के साथ ही साथ सोच रहे थे “या तो यह व्यक्ति उस क्रान्तिकारी दल से किसी न किसी तरह जाने या अनजाने सम्बन्धित है और या फिर यह बड़ा ही भारी कृतघ्न है । जिस दल के भयंकर क्रान्तिकारियों ने हाथ में पाकर भी इसे सहज ही जीवित इसके घर लौटा दिया, उन्हीं का सर्वनाश करके विदेशी शक्ति का पाया दृढ़ करने में यह रात दिन व्यस्त है । वह व्यक्ति, जो स्वदेश की स्वतन्त्रता के लिये निश-दिन भूखे, ध्यासे, नंगे रहकर भी, विदेशी सरकार के बूट की ठोकर छाती पर खाकर भी पथ भ्रष्ट नहीं होते, उन्हीं के रक्त को पी जाने के लिये यह व्यक्ति जिसे उन्होंने सहज ही छोड़ दिया है, पागल है ।” साहब आयरलैंड का व्यक्ति था । मजूमदार के लिये आपद-मस्तक घृणा से उसका मन भर उठा, किन्तु फिर भी उसका कर्तव्य तो मजूमदार को हर प्रकार की सहायता देना ही था । मन ही मन वह कह उठा—“हे काली जाति ! तू इसी योग्य है कि गुलाम रहे..... ..अकृतज्ञ मनुष्य स्वाधीन होगा भी तो कैसे ?”

योगेश मजूमदार कार की पिछली सीट पर बैठे ही बैठे उस प्रतिमा की कल्पना कर रहे थे, जिसे उन्होंने अपने अर्द्धचेतन मस्तिष्क की अवस्था में अपने चारों ओर घूमघाम कर एकान्त भाव से सेवा करते पाया था । उनके मस्तिष्क में उनकी याद तो न थी, किन्तु कुछ

एक छाप जैसी शेष थी जिसे वह किसी प्रकार भी धो पाते नहीं थे ।

“वह तो सन्ध्या न थी, सन्ध्या जैसी भी न थी...। सन्ध्या सन्ध्या आजकल अधिकतर कहां रहती है ? पूछने पर सहज भाव से टाल-मटोल कर जाती है.....और वह.....”
अभी तक मजूमदार के मस्तिष्क की अवस्था बिल्कुल ठीक न थी । एक स्वप्न की भांति जो कुछेक चित्र उनके मस्तिष्क पर अङ्कित हो गये थे—अनेक प्रयत्न करके भी वह उन्हें मिटा पाते थे नहीं, किन्तु वही उनकी मानसिक अशान्ति का कारण बने हुये थे । यूँ तो किसी ऐसे दल के रहस्य का पता पा जाने पर उन्हें बड़ी भारी पदवी मिलने की आशा भी थी, किन्तु उससे भी अधिक “वह मूर्ति, वह प्रतिमा सी... वह सेविका...वह...दो काली घनी गहरी आंखें, वह दो कोमल हल्के गुलाबी हाथ । वही सब तो...वही सब तो.....।”

विवाह के पश्चात् आरम्भिक कुछेक दिनों को छोड़कर सन्ध्या कभी भी पति के बहुत अधिक समीप न रही थी । मजूमदार को उसके उतने अधिक सामीप्य की आदत भी न थी और इच्छा होते हुये भी उसने कभी उसके लिये प्रयत्न भी नहीं किया था, किन्तु अब उसकी इच्छा होती थी कि सन्ध्या, सुन्दर सी सन्ध्या उसके पलंग के चारों ओर गँडराती रहे...उसे पानी दे, दूध दे, खाना दे, सब-कुछ ही दे दे । वह बीमार हो और सन्ध्या उसकी परिचर्या करे.....। न जाने मन के किस अचेतन कोने में उस अन्धेरी कोठरी में रहने वाली अज्ञात कुलशीला की गहरी छाप पड़ गई थी—जो कि निकाले भी निकल पाती नहीं थी, वरन् गहरी ही होती जाती थी । स्वयं न समझ पाकर भी उस कमी पूरी न हो सकने वाली इच्छा की पूर्ति के लिये मजूमदार चाहता था कि सन्ध्या उसकी ही परिचर्या में लगी रहे, उसके ही निकट रहे और वह सन्ध्या की उपस्थिति उसकी परिचर्या से रिक्त स्थान की

पूर्ति कर सके। किन्तु कहां ? सन्ध्या तो किसी समय भी ऐसा कर पाती ही नहीं थी और मजूमदार, उसका समाज की दृष्टि से पति भी उससे इसकी मांग कर पाता नहीं था।

मनुष्य जाने या अनजाने जिस चीज की इच्छा करता है, उसके पाने पर सन्तुष्ट हो जाता है और उसके न पाने पर क्रोधित भी हो उठता है, और उसे पाने के लिये प्रयत्नशील भी। किन्तु अत्यन्त दयनीय अवस्था में पा सकने की सम्भावना न होने पर स्थानपूर्ति का प्रयत्न करके यदि उसमें तनिक भी सफल नहीं हो पाता है तो बुरी तरह झुंझला उठता है। यही अवस्था थी योगेश मजूमदार की। वह सन्ध्या को लेकर मन बहलाना चाहता था किन्तु सन्ध्या उसके लिये जानबूझ कर आकाश-कुसुम बन गई थी। योगेश कुछ कह भी नहीं पाता था, यही कारण था कि उसका अनजाने ही क्रोध उस दिल पर उस.....क्रान्तिकारियों के अभागे दिल पर बढ़ता जा रहा था जिसने कि इसे जान से न मार कर घर सकुशल लौटा दिया था। योगेश शराबी नहीं था, पर उसने घर लौटते ही क्लब का मार्ग लिया। घर पर सन्ध्या नहीं थी। उसने आते ही सन्ध्या को पूछा। पता लगा कि वह दोपहर से ही नहीं लौटी है। क्लब में योगेश ने शराब पी और खूब पी.....उस दिन बालडान्स का प्रबन्ध था। योगेश इन सब चीजों का शौकीन न था। फिर भी वह पांच बार नाचा, दो बार मिस गुडविन के साथ, एक बार मिस दीक्षित, एक बार डा० गज्जन और मिस कारनीलियस के साथ। उसका सिर चकरा रहा था।

बैरिस्टर घोष ने बारह बजे के पश्चात् पूछा—“घर कब चलोगे ?”

“क्यों क्या दिन ढल गया !”

हंस कर बैरिस्टर घोस चले गये—“खूब चढ़ी है।”

सुबह तक क्लब खाली हो गई थी पर मजूमदार सिर झुकाये बैठे ही रहे बिलियर्ड की मेज़ पर। जिस समय मिस्टर झा ने आकर उनका कन्धा हिलाया तो वह बोल उठे—“क्या दवाई दोगी ? लाओ दो ना ? कौन छाया ? माया ?”

“घर चलो मजूमदार, सन्ध्या घबराती होगी। रात तुम ने यहीं बिता दी।”

“ओह सन्ध्या.....छाया नहीं..... नहीं.....नहीं सन्ध्या... . चलो झा चलें।” जैसे तैसे मजूमदार को घर पहुँचा कर जब झा साहब घर लौटे तो मिसिज़ झा कह रही थी—“अजब स्त्री है, पति घर हो या न हो, स्त्री को तो घर ही रहना चाहिये। यह तो जैसे नये ही ढङ्ग हैं।”

झा साहब ने पूछा—“क्या हुआ रानी ?”

“अरे कल बिटिया को सन्ध्या बुला गई थी आज सुबह कालिज में दाखिल करवाने ले जाने के लिये। बिटिया को मैंने सुबह सुबह भेजा तो पता लगा आप कल रात से ही घर नहीं हैं। लो बोलो, स्त्री को तो चाहे जो हो, घर ही रहना चाहिये, पर यह देवी जी कुछ हैं ही अजीब।”

धीरे से झा ने कहा—“और वैसा ही पति भी मिला है ?”

मिसिज़ झा बड़बड़ाती रहीं, पर झा साहब तुरन्त ही अपने कमरे में चले गये।

नवजीवन

:: २५ ::

“सन्ध्या ! घबराहट तो नहीं होती ?”

“क्यों, क्या तुम घबरा रहे हो ?”

पुरुषत्व का इतना अपमान अनिल सह न सका । कुछ चिढ़ सा भी गया ।

“नहीं, मैं तो भला घबराऊंगा ही क्यों ? पर तुम्हें तो मजूम-दार की ओर से भय होगा ही ।”

“जब तक तुम मेरे साथ हो, मुझे किसी का भी भय नहीं है और सम्भवतः तुम्हारे साथ न होने पर भी आज दिन की जमा पूँजी मुझे भय से परे रखने में सहायता देगी ही ।”

अनिल ने इस बार सन्ध्या का बाँया हाथ पकड़ लिया । सन्ध्या पथरीले रास्ते में अनिल का हाथ थाम लेने से बहुत कुछ निश्चिन्त हो गई । बहुत ही धीमे स्वर में अनिल ने कहा—“जो आज हम करके आ रहे हैं, उसका दण्ड जानती हो क्या है !”

“कुछ भी हो, वह मृत्यु से बढ़ कर न होगा ।”

“सचमुच ही वह मृत्यु यन्त्रणा से भी बढ़ कर ही है । जेल-जीवन उतना कठिन नहीं, किन्तु जितनी यन्त्रणायें रहस्य जानने के लिये दी जाती हैं, उनका कोई अन्त नहीं है सन्ध्या । घृणा उत्पन्न

करने के लिये नहीं कहता, सचमुच ही तुम्हारे पति उन बहुत सी यन्त्रणाओं के विधाता हैं, सञ्चालक हैं ।”

“सुनती हूँ, वह बहुत ही कुशल डी० एस० पी० हैं ।”

“हां और साधारण जनता के शब्द में बहुत ही अधिक कठोर, भयङ्कर, अत्याचारी ।”

“हो सकता है क्रान्तिकारियों के साथ उनका यही व्यवहार हो ।” सन्ध्या का तनिक भी ध्यान शब्दों की ओर न था । वह अपने हाथों में अनिल की पांचों अंगुलियों को इस तरह थामे थी—मानो कोई बरबस उन्हें उससे छीने लिये जाता हो । अंगुलियों के स्पर्श से सन्चारित भावों के अतिरिक्त और किसी ओर भी उसका ध्यान न था ।

“यही नहीं, यूँ भी उनके जुल्मों की गणना करना कठिन होता है और आजकल तो.....उफ़्र जो वह यह जान पायें.....।”

“कैसे जानेंगे, वह तो आज शहर में भी नहीं हैं और हों भी तो उन्हें मालूम ही है कि मैं अक्सर कोरोनेशन बाल में चली जाती हूँ । वह समझेंगे रात वहीं बीती ।”

“और यदि कोई बता दे ।”

“नहीं, सो नहीं हो सकता, मैं दो डान्स दे आई हूँ और वह कोरोनेशन कभी नहीं जाते, रोमियो क्लब ही जाते हैं और आजकल तो वहां मिस कोहली भी हैं । मिस १९४२ जानते हो ?”

इस बार अनिल चुप रहा । सन्ध्या फिर बोली—“अनिल मुझे इन सब चीज़ों से घृणा है, ठीक वैसे ही जैसे बाल डान्स या अन्य ऐसी ही चीज़ों से । यूँसुफ़ जब मुझसे बार-बार नाचने को कहता है तो मेरे मस्तिष्क की नसें झनझना उठती हैं, फिर भी मैं यह सब क्यों करती हूँ, किस प्रकार करती हूँ, जान पाती नहीं । तुम्हारे रखे हुये

बम से वह सुखी, प्रसन्न आफिसर मिनटों में भस्म हो जावेंगे, जानती हूँ—फिर भी पति को, घर-बार को छोड़कर वहीं कुछ करने आज रात से मारी मारी घूम रही हूँ। शहर भर मेरे नाम पर थूकता है कि मैं नाचती हूँ—और पुरुषों के साथ और यहां भी मैं एक पर-पुरुष के साथ देश का कहा जाने वाला कार्य कर रही हूँ इस घनो अन्धेरी रात में, वर्षा में, पथरीली धरती पर पैदल चलकर। सो क्यों ?”

“क्यों ही समझ पाना ही तो सब से कठिन है, सन्ध्या। फिर भी मनुष्य वही करता है। भाभी को तो जानती हो—उन्हीं ने तुम्हारे पति को प्राणदण्ड देने के पक्ष में मत दिया, उन्हीं ने गोली-काण्ड में सहायता भी की, उन्होंने फिर दिन-रात अपने प्राण खतरे में डालकर उनकी प्राणरक्षा भी की—यह सब कैसी पहेली हैं, सो तुम्हीं लोग जान सकती हो।”

“मैं स्त्री हूँ, मैं यह सब जान सकूंगी। तुम्हारी भाभी सम्भवतः योगेश को प्रेम करती हैं।”

“नहीं, सन्ध्या यह तुम्हारी भूल है। भाभी की छाती में हृदय है ही नहीं। जिस अनिल के संकेत मात्र पर तुन सब-कुछ निझावर कर सकती हो, वही अनिल भाभी के लिये जरा भी प्रलोभन की वस्तु नहीं है, जानती हो ?”

सन्ध्या चण्णक ईर्ष्या से भर उठी—तुरन्त ही हंस दी हल्के से—“सदा सब ही वस्तुओं सबके लिये एक सी प्रलोभनीय नहीं हुआ करती हैं, अनिल बाबू !”

“नहीं, भाभी वैसी नहीं हैं।”

“उसमें ऐसी-वैसी की बात नहीं है अनिल !”

“क्या तुम्हारी भाभी मनुष्य नहीं हैं ?”

“यदि वह मनुष्य हों भी तो देवत्व से पूर्ण, सन्ध्या यह बात किसी दिन भी भुला न जाना।”

दोनों ही चुप हो गये । अधिक बोलना भय से खाली भी न था और अनिल की इच्छा कुछ विशेष बोलने की थी भी नहीं । कार तक पहुंचने के लिये अभी एक मील और चलना था । मार्ग अत्यधिक संकीर्ण हो रहा था—अन्धकार का कोई अन्त न था और जगह-जगह सन्ध्या की सुन्दर पैन्ट कांटों से फटती जाती थी । मार्ग इतना अधिक संकीर्ण हो गया था कि अनिल और सन्ध्या प्रायः सट कर चलने लगे । आते समय इतना अधिक अन्धेरा भी न था और इतनी मानसिक उत्तेजना भी नहीं । सन्ध्या अनिल की श्वास अपने अत्यन्त अधिक निकट अपने बालों, कनपटी और गालों पर ही अनुभव कर रही थी । उत्तेजना से सन्ध्या कांपने लगी—उसको इच्छा हुई कि अनिल को बरबस रोक कर कह दे— मुझे अब कहीं जाना नहीं है । चलो, यहीं इन अनजाने गांवों में जीवन का नया रंग जमायें । विश्व को कहीं बहने दो, हमारा मार्ग केवलमात्र हमारा ही मार्ग होगा ।

“मैं थक गई हूँ, तनिक ठहर न जाओ ।”

“नहीं ठहरना खतरे से खाली नहीं है । सन्ध्या मैं तुम्हें सहारा देता हूँ, कार तो अब दो-तीन फर्लांग ही होगी, चले चलते हैं ।” अनिल ने सन्ध्या के कमर के पीछे अपना हाथ लगा दिया । सन्ध्या ने निश्चल सा अपना सिर अनिल के कंधे पर रख दिया । केवल मात्र दाँगें चली जा रही थीं । सन्ध्या विश्व भर के अस्तित्व को, कठोर यथार्थ को भूल चुकी थी ।

अनिल ने सोचा—“इसी समय यदि हम मर जावें इसी तरह, इसी समय ।”

सन्ध्या सोच रही थी—“ओह ! जीवन के मार्ग पर क्या हम इसी तरह साथ साथ नहीं चल सकते ।”

ठीक इसी समय रोमियो क्लब के एक कमरे में श्री योगे मजूमदार कह रहे थे। मस कोहली से—

“आपको मुझ पर विश्वास नहीं है क्या मित्रा ?”

“आप पर विश्वास न करूँगी तो किस पर करूँगी योगेश ? लेकिन सन्ध्या का क्या होगा ?”

“ओह जाने दो, भावी बातें नहीं करते।”

“किसी दिन आपने सन्ध्या को भी यही कहा होगा क्यों ?”

“शायद नहीं।”

और दोनों खिलखिला कर हंस पड़े। बाहर बड़े जोर से बारिश हो रही थी, खिड़कियों के शीशों पर तेज़ी से बूंदें पड़ रही थीं। काफ़ी के गरम-गरम प्याले दोनों के सामने रखी हुई एक सुन्दर सी तिपाई की शोभा बढ़ा रहे थे।

* * * * *

और इसी समय नदी के अथाह जल में नाव पर अकेली बैठी मंगे सिर पर बारिश की बूंदों का आघात सहती हुई भाभी सोच रही थी—“यह सब-कुछ क्या है ? कुछ भी तो नहीं। वह मेरे हाथ में थे, उनका जीवन मेरे हाथ में था। मैं क्रान्तिकारिणी हूँ, फिर भी मैंने उन्हें छोड़ दिया। सो क्या है ? मेरी दुर्बलता ही तो। वह क्या मेरे कोई थे, वह तो केवलमात्र देशद्रोही ही थे। हे प्रभु, नारायण ! मैं तुम्हारी शिक्षा ग्रहण कर पाई नहीं.....अब क्यों ? यह सब-कुछ क्या है ? मैं क्या चाहती हूँ, मेरे हृदय के नारायण ! मन-मन्दिर के प्रतिष्ठित देवता ! तुम्हारी क्या इच्छा है ? तुम मुझसे मेरा कर्त्तव्य पूरा क्यों नहीं कराते.....अभी तो मेरा घत पूरा हुआ नहीं। माथ.....! ओह यह क्या हुआ.....मुझे शान्ति नहीं मिली। दया करो, दयानिधे ! प्रभु !! दया करो—दासी पर। नारायण !!! दया

करो.....। मेरी लाठी पकड़कर मुझे मार्ग दिखाओ, नारायण.....
 और फिर तुम्हारे दिखाये हुये मार्ग पर चल सकूँ—जो शक्ति भी तो
 दो प्रभु...तुम से उधार लेकर ही तो मैं अपना दिवाँलिया कारबार
 चलाना चाहती हूँ। मेरे महाजन ! मेरे धनी !! दया करो। प्रभु...”
 वर्षा की बूंदों ने अपाद मस्तक भाभी को भिगो डाला, किन्तु वस्त्रों
 से भी अधिक भीग गया था, उनका अन्दर..... आंखें बह रही थीं...
 “ओह, मैं उन्हें देखना ही नहीं चाहती..... मैं तो अन्य अनेक
 व्यक्तियों की भाँति ही उनमें भी तुम्हें ही देखना चाहती हूँ। नारायण !
 वह मेरे कौन हैं ? मेरे तो तुम्हीं सब-कुछ हो। मेरी मानसिक दुर्बलता
 हर लो। मैं तुम्हारे अतिरिक्त उनमें कुछ भी अधिक न देख पाऊँ...
 मुझे कुछ भी नहीं चाहिये...सचमुच ही नहीं चाहिये। प्रभु.....
 तुम क्यों बरबस मेरे सिर पर यह सब-कुछ डालते हो। मुझे उनके
 प्रेम का अब करना ही क्या है, वह समय तो निकल चुका है—अब
 और नाच क्यों नचाते हो, स्वामी ! मैं तो बहुत नाच नाच चुकी
 हूँ, मुझे अब और कुछ भी करना धरना शेष रह नहीं गया है...” भाभी
 की आंखें बुरी तरह बरस रही थीं। आकाश स्थित मेघ भी उनसे कुछ
 पोछे न थे। नदी का पानी भी घुमड़ घुमड़ कर यात्री के हृदय की
 तरह ही गम्भीर नाद कर रहा था।

स्वामी जी

:: २६ ::

“सब कुछ ही तो नष्ट-भ्रष्ट हो गया स्वामी जी, अब आप यह खेल समाप्त ही क्यों नहीं कर देते ?”

“सो तो किसी दिन भी हो सकता है देवी ! किन्तु तुम इतनी चिन्तित क्यों हो ? सर्व प्रथम दीक्षा देते हुए भी मैंने किसी दिन तुम्हें या किसी को भी यह शिक्षा या आशा नहीं दी थी कि हम अपने प्रयत्न में सफल होंगे । जहां एक ओर अनहत्थे गिने चुने दो चार व्यक्ति हों अत्याचार की चक्की में पिसने के लिए और दूसरी ओर चक्की अत्यन्त प्रबल हो, शक्तिशाली हो, तो विना चक्की की होगी अथवा पिसने वालों की—यह प्रश्न नहीं हुआ करता । प्रश्न तो यह है कि हमने अपना कर्तव्य पूरा किया या नहीं ?”

“क्या यही हमारा कर्तव्य था स्वामी जी ? शक्का नहीं करतो, केवल मात्र जिज्ञासा भाव से पूछती हूँ । सचमुच स्वामी जी इस मार्ग पर चलते हुए भी हर समय यही लगता है कि कहीं कुछ त्राट आवश्यक है, मनुष्य क्या केवल ध्वंस करने के लिये ही है ?”

“यह ध्वंस, ध्वंस ही नहीं देवी, निर्माण की भूमिका मात्र है । निर्माण करने के लिये भी तो आपको कुछ न कुछ धो-पोंछ डालना पड़ता ही है, मिटा कर स्थान स्वच्छ कर डालना होता है । इस ध्वंस का महत्व इसी में नहीं है । महत्व तो है आने वाले निर्माण में

जिसकी कि यह भूमिका थी। हमारे साधन ओछे हैं फिर भी यह मार्ग बनाना चाहते हैं और इसके लिये ठीक या ग़लत जो भी कोई मार्ग मिलेगा उसी को लेकर हम ध्येय तक पहुँचना चाहेंगे। किन्तु लक्ष्य हमारा नव निर्माण ही है आज का, कल तक का ध्वंस नहीं। और उस पथ पर भी हमें आँखों में किसी दिन आंसू झलकाने नहीं हैं। निष्काम कर्म ही तो हमारा उद्देश्य है, वही तो हमारी समस्त पूंजी है देवी।”

“फिर भी न जाने क्यों मानव का संहार, वह कैसा भी मानव क्यों न हो, ठीक जान पड़ता नहीं।”

“देवी ! तुम्हें यह अभिमान हुआ हो कैसे कि तुम किसी का संहार कर पाती हो, कर सकती हो और यह अभिमान तुम्हें होता भी तब ही है, जब कि तुम अपने व्यक्तित्व को समष्टि से अलग करके देखती हो, अन्यथा संहारक और संहार किया जाने वाला कोई दो वस्तु तो है नहीं।”

“किन्तु देव ! यह तत्त्वज्ञान अज्ञानी हाथों में पड़कर क्या उन्हें पथभ्रष्ट न कर देगा ?”

“हो सकता है, पर तुम अज्ञानी तो हो नहीं। उचित पात्र को ही मैंने शिक्षा दी है।”

“मैं दुर्बल हूँ, प्रभु.....बहुत बार पथभ्रष्ट हो जाती हूँ।”

“वहीं तो वास्तव में तुम्हारी परीक्षा है। उस परीक्षा में उत्तीर्ण हुये बिना तो प्रभु अपनाते नहीं देवी। मीरा को विष का प्याला और प्रह्लाद को अनेकानेक कष्ट देकर भगवान ने कुछ अपनी असमर्थता का परिचय थोड़े ही दिया है। वही तो उनकी परीक्षा करने वाली नीति का परिचायक है। आज विश्व भर की भक्ति-पूजा ग्रहण करने वाले शिव विष पीकर ही शिव बन पाये थे।”

“वह सामर्थ्य थे, दृढ़ थे, प्रबल थे—किन्तु मैं तो दुर्बल हूँ, स्वामी जी.....”

“विश्व में कोई भी मानव दुर्बल नहीं होता। देवी !..... और तुम में तो विध्वंस और निर्माण दोनों ही प्रकार की शक्ति निवास करती है। सुख भरी गृहस्थी में लौट जाना चाहो तो आज भी मार्ग बन्द नहीं है। योगेश आज भी माने या न माने, तुम्हारे लिये ही दल भर का मूलोच्छेद करने के लिये पागल हो उठा है।”

कुछ आश्चर्य से भाभी ने कहा—“यह आप क्या कह रहे हैं स्वामी जी !”

“वारुणी मेरे लिये कुछ भी अनजाना नहीं है। मनुष्य के मन के भीतर का रहस्य और बाहर का भी मेरे सम्मुख स्पष्ट ही है। आज वह तुम्हारे लिये व्याकुल है। यदि तुम उसकी गृहस्थी करने के लिये संसर में लौट कर जाना चाहो तो मैं प्रसन्नता से आज्ञा दे दूंगा।”

बहुत दिनों से विस्मृत के गर्त में गिरा हुआ वारुणी नाम आज स्वयं भाभी के कानों में खटक उठा। बहुत देर तक वह नीचा सिर किये बैठी रही, फिर धीरे-धीरे कह गई—“विश्व मेरे लिये बहुत विस्तृत है स्वामी जी !..... कहीं बित्ता भर भी जगह न पा सकने पर स्वयं अपना अन्त भले ही कर लूँ, किन्तु अब वहाँ लौटकर जा सकूंगी नहीं.....।”

“देवी ! आज भी तुम्हारे हृदय में आशा है, अभिलाषा है सोच लो।”

“स्वामी जी ! जानती हूँ, ज्ञान मार्ग पर चलने योग्य तीव्र बुद्धिरूपी पूंजी मेरे पास नहीं है, शायद किसी दिन भी न थी। भक्ति मार्ग में खोजने पर भी उतनी श्रद्धा, उतना सरल सहज विश्वास अपने

भीतर पा सकूंगी नहीं। मेरे लिये अब केवलमात्र कर्म मार्ग ही तो रह गया है। अन्य मार्ग बन्द हो जायें, मुझे उसकी चिन्ता नहीं। मुझे कर्म मार्ग पर तो चलना ही होगा—आप कर्म सुझाइये, मैं करती जाऊंगी। सफलता की बात अब और नहीं करूंगी.....कर्म के सम्बन्ध में उचित-अनुचित की मीमांसा नहीं करूंगी। वह सब जाने दीजिये, मुझे केवलमात्र कर्म दीजिये। निष्काम भाव से वही कर सकूँ, सो आशीर्वाद दीजिये और बस।”

“कर सकोगी देवी ! तुम्हें अपना बलिदान, बड़ा भयंकर बलिदान, कठोर बलिदान करना पड़ेगा। कर सकोगी देवी ? इसीलिये आज तुमको बुलाया था।”

कुछ देर ठहर कर भाभी ने कहा निश्चयात्मक स्वर में—“कर सकूंगी गुरुदेव।”

“देखती हो देवी ! आज क्या त्राहि-त्राहि मच रही है। बुरी तरह योगेश स्त्री, बच्चों, लड़कों को पकड़ पकड़ कर रहस्य भेद के नाम पर उनका अमानुषिक बलिदान कर रहा है। तुम नहीं जानती, पर मैं जानता हूँ, इसके पीछे दर्द लालसा तो है ही, पर तुम्हारी चाह भी कुछ कम नहीं है।”

“तब क्या आत्म-हत्या कर लूँ।”

“नहीं, देवी ! तुम्हें अपने आपको पकड़वाकर अनेकों निरापराधों की रक्षा करना होगा।”

वारुणी अपाद मस्तक कांप उठी—भयङ्कर अत्याचारों की उसे कुछ कुछ कल्पना थी। उसका साहस छूटने लगा।

“यही आपकी आज्ञा है गुरुदेव !”

“नहीं, यह है कर्म मार्ग का सुझाव। बेटी जानता हूँ, तेरे बलिदान कर डालने का अधिकार मुझे नहीं है। पर तेरे लिये.....

केवल मात्र तेरे लिये, अनेकों नारायण के स्वरूपों का अनावश्यक बलिदान हो, यह भी सह नहीं पाता । तू सोच ले बच्ची ।”

स्वामी जी आज पहिली ही बार भाभी को इतने निकट से दीख पड़े । उनमें न ममता है, न मोह, न निजत्व और न परायेपने की भावना । सब जिनके अपने, बहुत ही अधिक अपने होकर भी कोई जिनका ध्यान केवल मात्र अपनी ओर खींच पाता नहीं, अपने में भर कर जिन्हें बाँध पाता नहीं, उन्हीं की जाति के स्वामी जी भी हैं । भाभी ने स्पष्ट ही देख लिया, और कुछ भी तो कहने सुनने को स्थान था नहीं । उन्होंने शान्तिपूर्वक कहा—

“खूब कर सकूँगी प्रभु ! तीन दिन का समय दीजिये ।”

“तैयारी करनी है देवी ?”

“नहीं, बल सञ्चय करना है ।”

“एक दिन केवल एक दिन.....न होगा ?”

“अच्छा ऐसा ही होगा ।” भाभी सिर झुकाये बैठी रहीं ।

स्वामी जी ने कुछ देर गीता के अन्तिम अध्याय का पाठ किया । भाभी चुपचाप सुनती रही । तत्पश्चात् स्वामी जी के इस बार बिल्कुल ही चरणों पर पड़ कर प्रणाम किया । स्वामी जी ने आशीर्वाद दिया —“जननि ! जाओ अपनी सन्तति की रक्षा करो ।”

भाभी ने चुपचाप सिर झुका कर आशीर्वाद ग्रहण कर लिया । उनका मन शान्त न था, पर उसमें किसी प्रकार की जलन भी न थी ।

दूसरे दिन, दिन भर भाभी अपनी गन्दी कोठरी में ही बन्द रही । अनिल ने कई बार भीतर जाना चाहा पर द्वार बन्द ही था । भाभी उसी पलङ्ग पर जिस पर लिटा कर कितने ही दिन योगेश की सेवा की थी, सिर रखे बैठी रहीं—“नारायण ! तेरे मानव रूप की

साधना एक दिन मैंने करनी चाही थी किन्तु उस दिन तू ने ऐसी पूजा स्वीकार ही नहीं की। आज क्या चाहता है तू.....बजूंगी मैं अवश्य बजूंगी, यन्त्री हूँ ना। किन्तु तू बजाता तो जा। मुझे किसी दिन भी निराधार न छोड़ देना। भले ही बजते बजते मैं टूट क्यों न जाऊँ किन्तु बजती तो तेरे ही हाथों में रहूँ प्रभु।”

रात्रि में अनिल को द्वार खुला मिला। भाभी ने भीतर आते ही अनिल को बड़े प्यार से बिठाया, चाय पिलाई। बहुत सी बातें भी कीं। भाभी आज प्रसन्न थी, बहुत ही अधिक प्रसन्न। अनिल प्रसन्नता का कारण तो जान पाया नहीं, किन्तु कुछ निश्चिन्त सा अवश्य हो गया।

“भाभी ! अब हमें अपने सारे काम बन्द करने पड़ेंगे। दमन-चक्र बड़ी ज़ोर से घूम रहा है जान पड़ता है, इस बार सब कुछ चकनाचूर हो जायेगा।”

“हो जाने दो, भइया ! जिन्होंने जन्म दिया है, वही जिस दिन कोई दूसरा काम सौंप देंगे, उसी को लेकर चल पड़ना।”

“किस दिन पकड़ लिये जायेंगे, यह भी कोई पता नहीं। भाभी, चलो कहीं भाग न चलें, बहुत दूर, इनके कुचक्री हाथों की पकड़ से बहुत दूर ?”

सरल हास्य के बीच अनिल ने भाभी से बिदा ली। उसे रात्रि में ग्यारह बजे सन्ध्या से मिलना जो था। आज ही उन्हें दल के भविष्य के विषय में निश्चय करना था। भाभी, इस सभा में उपस्थित न हो सकेंगी, इस विषय में वह पहले ही सूचना दे चुकी थीं।

रहस्यमयी

:: २७ ::

“सान्याल ! इस समय मुझे आराम की बड़ी आवश्यकता है । क्या मैं तुम्हारे बंगले पर जा सकती हूँ ?”

“अवश्य चलिये— मैं जरा चलकर कार निकाल लूँ । न हो आपकी ही कार में चला चलूँगा.....फिर ड्राइवर आकर कार ले जायेगा ।”

“नहीं, सो न होगा । आप यहीं रहें, मैं तीन-चार घण्टे विश्राम करके आ जाऊँगी । आपके घर की किसी भी वस्तु की हानि नहीं होगी, यह विश्वास रखिये ।”

“आप कहती क्या हैं ? सन्ध्या ! किन्तु मुझे क्या अपने सामीप्य का आनन्द न उठाने देगी ?”

“नहीं, सो फिर किसी दिन सही, इस समय मैं बहुत ही थकी हुई हूँ । बातचीत भी नहीं कर सकूँगी, अतएव मेरा सामीप्य इस समय व्यर्थ सा ही है, मुझे शान्ति पूर्वक दो-चार घण्टे अकेले ही बिता लेने दो । न इच्छा हो तो मैं कहीं और हो स्थान खोज लूँ ।”

“जैसी आपकी आज्ञा ।” कह कर सान्याल वहीं बैठ गया । सन्ध्या चुपचाप चाबी लेकर बाहर आ गई । उसका मन चिन्तित सा था, वह स्वयं भी कुछ अन्यमनस्क सी थी । थोड़ी ही देर में कार सान्याल के एकान्त स्थान पर स्थित बंगले के द्वार पर पहुँच गई ।

नौकर चाकर सन्ध्या से परिचित ही थे। सन्ध्या झटपट अपना छोटा सा बैग स्वयं उठाकर भीतरी कमरे की ओर चली। नौकर बैग उठाने को दौड़ा—पर सन्ध्या ने उसे दूर से ही मना कर दिया। कमरे को भीतर से बन्द करके सन्ध्या ने चारों ओर से खिड़की-पट्टों आदि की भली प्रकार परीक्षा की और फिर सान्याल के पलंग पर शान्तिपूर्वक बैठ गई। उसे लगा कि उसकी आँखें जल रही हैं, सिर भी कुछ भारी हो रहा है। फिर उसने बैग खोलकर सारे कागज उसमें से निकाल कर फर्श पर ढेर कर दिये। कुछ देर तक एकटक उन्हीं की ओर देखती रही और फिर दियासलाई निकाल कर उनके ढेर में जलती हुई दिया सलाई रख दी। मोटे पट्टों में से बाहर प्रकाश जाने की सम्भावना न थी, यूँ भी बाहर सूर्य का प्रकाश था जिससे भीतरी प्रकाश की किरणें बाहर दीख पड़ने की बहुत ही कम सम्भावना थी। कागज आधे से अधिक जल चुकने पर सन्ध्या ने चारपाई के सिरहाने कमर टिका दी—“जलो, जलो महाप्राण। देश की स्वतन्त्रता की विभिन्न स्कीमों—तुम्हारे भाग्य में यही लिखा था। सब कुछ ही तो नष्ट-भ्रष्ट हो गया, अब तुम्हीं क्यों जीवित रहो.....”। कागजों के जल चुकने पर सन्ध्या ने अपने हाथों राख समेट कर गुसलखाने में हाथ-मुँह धोने के बर्तन में सारी की सारी राख बहा दी। स्थान बिल्कुल स्वच्छ कर दिया और फिर पलंग पर लेट गई। थकी हुई.....उसे जान पड़ा कि उसका माथा अब अधिक जलने लगा है। भीतर मानो एक बारगी सहस्रों भट्टियाँ जल रही हों। आँखें खुल भी नहीं रही थीं—पिछले आठ दिन से वह निरन्तर दिन-रात काम कर रही थी, अथक, बिना विश्राम लिये। सोने का तो समय ही कहाँ था ? तिस पर संसार की आँखों में धूल झोंकने के लिये क्लब, घर आदि भी भुगतने ही पड़ते थे। थोड़ी ही देर में सन्ध्या अचेत हो गई। जिस समय उसकी आँखें खुलीं

तब सन्ध्या होने में तनिक भी देर न थी। सन्ध्या ने हाथ-मुँह धोकर ज्यों ही द्वार खोला—सान्याल ड्राइङ्ग रूम से आता हुआ दीख पड़ा—

“आज तो आपने हद कर दी। सन्ध्या ! अब तो मैं द्वार भड़भड़ाने ही वाला था, सचमुच मैं तो अत्यन्त चिन्तित हो उठा था। शुक्र है आप दीख पड़ी।”

“हां, आज मैं बहुत देर सोई।”

“आपकी आंखें तो बहुत लाल हैं, सिर में दर्द तो नहीं है ?”

“कुछ है ही।” दोनों ड्राइङ्ग रूम में पहुँच गये थे। सान्याल ने सन्ध्या के माथे पर हाथ रक्खा, माथा जलते तवे की भांति तप रहा था।

“ओह, आपको तो बड़ा तेज़ बुखार है। आप चल कर लेटें, मैं डाक्टर बोस और मजूमदार साहब को फ़ोन कर दूँ।”

“मजूमदार घर पर नहीं हैं। वह तीन दिन से दौरे पर गये हैं। क्रान्तिकारियों को पकड़कर फांसी पर लटकाना है ना, उसी में लगे हुये हैं।”

“यह अभागो यूँ ही तोड़-फोड़ करके माक में दम किये हुये हैं। भला यह पिदकियां कहीं सरकार को उखाड़ सकती हैं।”

सन्ध्या चुप ही रही—तीव्र घृणा से उसका मन भर उठा। हो सकता है राजनीतिक दृष्टि से उनका मार्ग ग़लत हो, किन्तु उनकी निस्वार्थ वृत्ति, उनका आत्म-त्याग और उनकी बलिदान भावना किस प्रकार पूजा की वस्तु बन उठती थी—यह सन्ध्या स्वयं अपनी आंखों से देख चुकी थी। हो सकता है कुछ लोगों का लूटमार, रेल की पटरी उखाड़ना, घर जलाना आदि भूख की मार का फल हो, किन्तु इन सबकी क्रान्ति की तीव्र प्यास तो सुव्यवस्थित विचारपूर्ण निष्काम धारणाओं का ही फल है, इसमें सन्ध्या को तनिक भी सन्देह न था।

उसे अनिल के शब्द याद आ गये—“सन्ध्या हम नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगे। हमारा त्याग, हमारा बलिदान विफल होगा, किन्तु इन सबके पीछे छिपी हुई हमारी देश के कल्याण की भावना चिरजीवी रहेगी—यही हमारा दृढ़ विश्वास है।”

सन्ध्या की कुछ भी कहने की इच्छा न हुई। इने-गिने त्यागी व्यक्तियों के दल का पत्र लेकर और तर्क द्वारा इनका महत्व सिद्ध करने का ओझा प्रयत्न करके वह उनके महत्व को किसी प्रकार घटाना नहीं चाहती थी, वह तो स्वतः सिद्ध ही है, पर सान्याल शान्त न रह सका।

“अब देखिये कितने ही तो गिरफ्तार हो गये हैं, और भी हो जायेंगे। शान्ति स्थापित होने में देर नहीं है। भला ऐसी-वैसी बुद्धि लेकर तो ब्रिटिश सरकार यहां राज्य नहीं कर रही है। मजूमदार साहब ने तो इस बार कमाल कर दिया सन्ध्या ! अब की बार वह एस० पी० हो जायेंगे। उन्होंने दल के दो सरदारों को पकड़ लिया है—एक है कोई स्त्री, जिसे वह लोग भाभी कहते हैं और दूसरा कोई पुरुष है अनिल नाम का।”

सन्ध्या के पैरों तले धरती खिसक गई। “क्या इसीलिये अनिल ने उसे वह कागज जलाने को दिये थे ? क्या इसीलिये भाभी ने कल उसे आशीर्वाद दिया था—“सुखी रहो, कर्तव्य पथ पर दृढ़ रहो।” कह कर ? यह सब क्या हो गया ? सन्ध्या में ज्वर की तीव्रता और इस आकस्मिक आघात से सोचने की शक्ति भी शेष नहीं रह गई। वह वहीं सोफे पर लुढ़क सी गई। सान्याल ने घबरा कर निकट आ कर सन्ध्या को हिलाना चाहा। सन्ध्या में अभी चेतना शेष थी।

“चक्कर आ गया, ठीक हो जाऊंगी, छेड़ो नहीं।”

आधे घण्टे में शहर के तीन-चार डाक्टर सन्ध्या को देख गये,

दवाइयों के ढेर भी मेज़ पर लग गये, किन्तु इतनी देख-भाज के पश्चात् भी सन्ध्या ठीक एक घण्टे पश्चात् अपनी कार में थी। सान्याल ने बहुत ज़ोर दिया कि वह स्वयं उसे उसके घर पहुँचा आये, पर सन्ध्या ने इसके अतिरिक्त और कुछ भी न कहा—“नहीं, अब मैं बिल्कुल ठीक हूँ, स्वयं ड्राइव करके भली प्रकार घर पहुँच सकूंगी।”

“एक सौ तीन डिग्री ज्वर शायद ठीक होना कहाता है।”

“सान्याल, धन्यवाद कृपा के लिये। मुझे अधिक तंग न करो।”

कार चल दी—द्वार पर खड़ा सान्याल सोच रहा था, विचित्र स्त्री है यह। इस पहेली को भला कौन समझ सकता है। इस उलझन का शायद कोई सुलभाव विश्व भर में कहीं है ही नहीं।

उधर सन्ध्या तेज़ी से शहर से दूर-दूर चली जा रही थी। पागलों की तरह कार की गति बढ़ाती ही चली जा रही थी घने जङ्गल की दिशा में। सन्ध्या ढल रही थी, कालिमा बढ़ रही थी..... और सन्ध्या की कार अबाध गति से चली जा रही थी। सन्ध्या मन्त्र की तरह मन ही मन कह रही थी—“अनिल आज ज़ालियों के पंजे में है। मेरा अनिल !”

अन्धेरी कोठरी

:: २८ ::

“सन्ध्या रानी ! क्या तुम किसी प्रकार भी मेरी नहीं हो सकती हो ?”

“मैं तो तुम्हारी ही हूँ हमीद, आज से नहीं, वरन् आक्सफोर्ड के क्लास रूम की पहिली लाइन से ही ।”

“ओह, पर तुम मेरे निकट तो किसी दिन भी नहीं आई सन्ध्या रानी.....जब कि मैं तुम्हारी एक-एक पैर की आहट पर कान लगाये रखता था, तब तुम मेरी तरफ देखना भी नहीं चाहती थी—अनिल के पीछे ही घूमती थी.....।”

“हमीद तुम समझ नहीं पाते, जहां असली प्रेम हो वहां दिखावट की गुञ्जाइश थोड़े ही रहती है.....।”

हमीद पर नशा चढ़ा हुआ था । बर्षों से वह सन्ध्या का ठुक-राया हुआ उपासक रहा है । किन्तु सन्ध्या ने कभी उस ओर दृगपात भी न किया । आजकल सन्ध्या की अकारण ही इतनी कृपा क्यों हो रही है, सो भी शायद हमीद को खटका नहीं । सन्ध्या आजकल आवश्यकता से अधिक सज सजा कर, अपनी विश्वमोहिनी मूर्ति को अजय बनाकर क्लब जाती है । हमीद पर उसकी कृपा भी अधिक रहती है, हमीद ने तीसरा गिलास भी खाली कर डाला ! सन्ध्या शायद जान-बूझ कर उसे अधिकाधिक पिलाती जाती थी ।

“चलो, अब घर चलें—रात अधिक हो गई है।” सन्ध्या ने कहा।

“कहां, कहां है मेरा घर?”

“सो मैं बता दूंगी।” कह कर लगभग घसीटते हुए सन्ध्या ने हमीद को अपनी कार में बिठाया। ड्राइवर से कह दिया कि हमीद की कार घर ले जाये और स्वयं भी जेल की ओर चली। हमीद जेल सुपरिन्टेण्डेंट था, जेल के पास ही उसका बंगला था और एक निजी मार्ग बंगले से जेल तक रात-बिरात जाने के लिये बना हुआ था। सन्ध्या का आना-जाना हमीद के घर प्रायः होता था, वह इन सब बातों से सुपरिचित थी। हमीद की पत्नी आजकल घर पर न थी और मजूमदार को तो घर से बाहर गये हुये लगभग तेरह दिन होने आये थे।

सन्ध्या ने हाथ का सहारा देकर हमीद को सोने के कमरे में ले जाकर लिटा दिया। हमीद अब अचेत था, उसके कपड़ों और मुख से दुर्गन्ध आ रही थी—नौकर-चाकरों को छुट्टी देकर सन्ध्या हमीद के समीप ही कुर्सी पर आन बैठी। बड़ी देर तक अचेत हमीद की ओर देख चुकने पर सन्ध्या ने जेब से अनिल का एक चित्र निकाला—शायद बल संयम करने के लिये। एक गिलास सुराही से उडेल कर शीतल जल पिया। गहरी बाहर फैली हुई अन्धेरी की ओर देखा और फिर एक बार हमीद की ओर देखकर बाहर निकल गई। कमरे का द्वार बाहर से बन्द करती गई—पांच-छः घण्टे से पूर्व हमीद की चेतना लौटने की कोई भी सम्भावना न थी। गुप्त मार्ग की चाबी सन्ध्या के पास थी। पेड़ों के पीछे छिपती हुई सन्ध्या भरा रिवातवर हाथ में लिये हुये जेल की ओर चल दी। सन्ध्या के जीवन में इतने बड़े साहस का काम करने का यह पहिला ही अवसर था, फिर भी वह

निश्चिन्त थी—मानो किसी प्रकार का भय उसे छू ही नहीं गया हो। कुछ ही देर में अत्यन्त कुशलता और कठिनता से बच बचा कर कितने ही दिनों की तैयार की हुई छोटी सी पिक्कली सेंध की ईंट अलग रख कर सन्ध्या अनिल के सेल में पहुँच गई।

“अनिल !”

“कौन ?” प्रगाढ़ निद्रा से जाग कर एकान्त वासी अनिल ने कहा। कोठरी मच्छरों से भरी हुई थी, भयङ्कर दुर्गन्ध और धुमस की तो कमी ही न थी। सन्ध्या का सिर चकरा गया, किन्तु इस ओर ध्यान देने का समय न था।

“अनिल ! मैं हूँ सन्ध्या।” बहुत ही धीमे स्वर में उसने कहा।

अनिल उठकर बैठ गया, अन्धेरे में एक दूसरे को देख पाने का कोई भी उपाय न था, पर सन्ध्या अन्दाज़ से अनिल के निकट पहुँच गई। उसका हाथ अपने हाथ में लेकर सन्ध्या ने बिना भूमिका बांधे ही कहा—“अनिल ! एक भीख दे दो मुझे। मैं तुम्हारी सन्ध्या आज इसी भीख के लिये झोली पसारि तुम्हारे सामने खड़ी हूँ।”

“तुम आईं कैसे ? सन्ध्या ! मृत्युपथ के यात्री को सान्त्वना देने ?”

“नहीं, उससे भिच्चा लेने। समय थोड़ा है, बताओ अपनी सन्ध्या को भीख दोगे ?”

“क्या चाहती हो ?”

“तुम्हारे प्राणों की भिच्चा।”

“सो क्या मेरे अधिकार में है ? मेरे प्राण तो अब सरकारी धरोहर हैं, उसे चुराने का प्रयत्न न करो।”

“सुनो, यह रिवाजवर लो। मैं जानती हूँ जब तक यह तुम्हारे

हाथ में है, कोई भी तुम्हें पकड़ सकेगा नहीं। मार्ग बताती हूँ, उससे सीधे चले जाओ। दक्षिण की ओर पेड़ों की झुरमुट में तुम्हें मेरी कार मिलेगी—उसे लेकर सीधे बड़गांव चले जाना। वहाँ वीरसेन तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा होगा शिव मन्दिर में। यहां तक सब प्रबन्ध हो गया है, आगे का प्रबन्ध वीरसेन ही करेगा।”

“सन्ध्या ! आज तुम मुझे कायरता का पाठ पढ़ाने आई हो क्या ?”

“नहीं, प्राण-रक्षा सर्व प्रथम धर्म है।”

“नहीं, इस विषय पर तर्क न करो। जो मार्ग जान बूझ कर भाभी ने चुना है, वही मार्ग मेरे लिये उचित है।”

“भाभी के लिये विश्व भर में कोई दो बूंद आंसू गिराने वाला भी नहीं है, किन्तु तुम तो अनाथ नहीं हो, तुम्हारे लिये चिन्ता करने वालों का आज भी सर्वथा अभाव नहीं है।”

“भाभी के लिये तड़फने वालों का भी सर्वथा अभाव हो सो बात नहीं है। पर जाने दो, वह बात आज नहीं कहूंगा—किसी भी प्रकार से प्रशंसा करके भाभी का महत्त्व आज कम न करूंगा, फिर भी उनके दिखाये मार्ग पर ही चलूंगा—यह निश्चय है। हमने जो कुछ किया था सन्ध्या ! उसका फल न पाने के लिये नहीं, वरन् सोच-समझ कर उसके कांटों को तौल कर ही हमने वह मार्ग अपनाया था। आज किसी कारण से भी उससे बच जाने का प्रयत्न न करूंगा।”

“मेरे इस अकथ परिश्रम का भी झ्याल न करोगे ?” कुछ रूआसे से स्वर में कहा सन्ध्या ने।

“मुझे क्षमा करो सन्ध्या। जानता हूँ—विश्व भर में तुमसे अधिक मेरा अपना कहने योग्य और कोई भी नहीं है, फिर भी तुम किसी दिन भी यह भूल न सको कि तुम न्यायधर्म और समाज की

दृष्टि से योगेश की विवाहिता पत्नी हो, अर्द्धाङ्गिनी हो, सो ही आशीर्वाद देता हूँ ।”

“जिनका शरीर पर न्यायोचित अधिकार था, उन्हें शरीर तो दिया ही है, मन देने के लिये तो मैं बाध्य हूँ नहीं ।”

“किन्तु मन किसी दिन भी शरीर द्वारा अनाधिकार चेष्टा न करे—यही प्रयत्न करना ।”

“तब यही अन्तिम दर्शन है क्या ?” सन्ध्या के स्वर में समझौते की सी आशा इस बार भी थी ।

“ईश्वर की ऐसी ही इच्छा जान पड़ती है ।”

“और तुम्हारी इच्छा ?”

“मेरी इच्छा का महत्व ही क्या है ?”

“शायद किसी के लिये कुछ हो ।”

“सन्ध्या रात बहुत बीत गई जान पड़ती है । तुम अब जाओ ।”

“मेरे लिये न दिन है और न रात, मैं विद्रोहिणी हूँ ।” इस बार सन्ध्या का स्वर जल रहा था ।

“सन्ध्या !”

“अब और कुछ न कहो अनिल । यह रिवाजवर लो और मुझे समाप्त कर दो । स्वयं भी फांसी की घृणित डोरी से बच जाओगे ।”

“सन्ध्या ! पागल तो नहीं हो गई हो । जान पड़ता है अधिक दुःख ने तुम्हारा माथा खराब कर दिया है । मैं करूँगा आत्म-हत्या ? क्यों ? किस दुःख से ?? और तुम ही क्यों मरोगी ??? कायरता तो मनुष्य का मूल्य है नहीं ।”

“मुझे उपदेश की आवश्यकता नहीं है अनिल, मुझे पाप की राह दिखा दो—थकी पुण्य कर-कर मैं प्यारे !”

दोनों ही कुछ देर चुप रहे। फिर सन्ध्या ने, सचमुच ही आत्माभिमानि सन्ध्या ने, गौरवमयी सन्ध्या ने अनिल के धूलभरे फटे गन्दे पैरों पर अपना सुवासित सिर रख दिया।

अनिल भी संयमित न रह सका। संयम का बांध रह रह कर टूटा जा रहा था—उसने सन्ध्या का सिर दोनों हाथों पर थाम कर अपनी गोद में रख लिया। अनिल की आंखों के अनेकों मोती सन्ध्या की सुन्दर केशराशि में डूबे जा रहे थे। सन्ध्या को आंखें तो अनिल की गोदी भिगोये ही डाल रही थीं।

बहुत देर बाद अनिल ने सन्ध्या को सीधा बिठा दिया।

“सन्ध्या ! अब तुम जाओ। मैं अब सुख से मर सकूंगा। सुदूर विदेश में एक दिन अपनी सन्ध्या रानी को खोकर लुट गया था। आज जेल की इस एकान्त अन्धेरी कोठरी में वह लुटा वैभव पाकर मैं धनी हो गया हूँ—यही मेरे लिये क्या कम सन्तोष की बात है। मेरा वैभव अक्षम है, अछूता है, उसे वैसा ही बना रहने दो। इस लोक और परलोक दोनों में ही वह वैभव, वह मेरा अछूता ऐश्वर्य मुझे सुख और शान्ति देगा।”

“किन्तु मुझे जो सब प्रकार से सशस्त्र और से निराश्रित किये जा रहे हो—उसका भी तो कोई उपाय बताते जाओ ना।”

“उसका उपाय सीखना चाहो तो सीखो भाभी के चरणों में बैठकर जो अपना सर्वस्व गंवाकर भी कभी निराश्रित होती नहीं, जिनका तीनों लोकों में कुछ भी नहीं है, फिर भी जो निधन नहीं हैं, वैभवहीन नहीं हैं, जिनका धन केवल अभाव है फिर भी जो ऐश्वर्यपूर्ण हैं, भरी हुई हैं—उन्हीं से उपाय सीखना होगा जी पाने का। किन्तु आज उन्हें तुम पाओगी कहां ? फिर भी खोजो अपना आश्रय जगदन्यन्ता की अपूर्व कृपा में... ..नारायण में... ..हरि में... ..सन्ध्या रानी !”

“तुम्हारा आज का मिलन ही मेरे शेष जीवन की एकमात्र पूंजी होगी अनिल ।”

“किन्तु यह भूल न जाना कि तुम्हारा लौकिक दृष्टि से योगेश ही पति है ।”

“समझने का प्रयत्न करूंगी—आज इस समय उस ओर ध्यान दिला कर मेरा मन और अधिक अशान्त न करो ।”

“सन्ध्ये ! भगवान तुम्हें अतुल बल दें, शान्ति दें । आज मृत्यु से पूर्व तुमने मेरा सर्वस्व लौटा कर मुझे जिला लिया ।”

सन्ध्या ने अनिल के चरणों पर बिलकुल ही माथा रख कर बड़ी देर तक वही माथा रखे रहने देकर प्रणाम किया । अनिल इस बार मुख से कुछ भी न बोला, उसने धीरे से सन्ध्या का सिर उठा कर उसके माथे पर बालों की जड़ों के निकट ही चुम्बन किया—शांत, मधुर, गम्भीर.....सन्ध्या चुपचाप लौट गई । उसका माथा आज मानो सदैव के लिये शांत शीतल हो गया था । रह रह कर उसे उसी स्थान पर जहाँ अनिल ने चुम्बन किया था शांति की लहर सी उठती जान पड़ती थी । सब कुछ लुटा कर भी आज उसकी दृष्टि उज्ज्वल थी । आज जैसा आनन्द, आज जैसी शांति इससे पूर्व सन्ध्या को शायद कभी भी नहीं मिली थी । दूसरे दिन उसने बसन्ती से कहा—“अनिल पकड़ा गया है । सम्भवतः उसे फांसी होगी ।” बसन्ती ने कहा—“और तुम इतनी बड़ी दुर्घटना को इतनी सरलता से कह पाती हो सन्ध्या । क्या तुम्हारे लिये हृदय नाम की कोई बला है ही नहीं ।”

“मुझे लोग रहस्यमयी कहते हैं, जानती हो बसन्ती ?”

बसन्ती ने घृणा से सन्ध्या को ओर देखा किन्तु सन्ध्या आज भिखारिणी नहीं थी । आज तो वह भी रानी थी—आज उसे बसन्ती

की और इर्षा से जलती हुई दृष्टि से ताकना तो नहीं पड़ा। बसन्ती रोने लगी किन्तु सन्ध्या चुप रही।

“उनसे क्या मिला जा सकता है ?”

“नहीं, किसी प्रकार भी नहीं, शायद फांसी के बाद शव भी नहीं मिल सकेगा।”

“तुम प्रयत्न करो तो भी नहीं मिल सकेंगे क्या ?”

“मैं प्रयत्न करूंगी, मैं कहूँगी योगेश मजूमदार डी.एस.पी.० को इस दिशा में सिफारिश करने के लिये... ना बहिन.....सो मुझसे मर जाने पर भी नहीं हो सकेगा, अनिल से मिल पाने के लिये योगेश के निकट भित्ता मांगू ? छीः।”

“वह तुम्हारे पति हैं, स्वामी हैं बहिन।”

“तो भी ऐसा न कर सकूंगी, किसी प्रकार भी न कर सकूंगी बसन्ती।”

सन्ध्या चली गई। बसन्ती ने मन ही मन आंसुओं से भीगे स्वर में कहा—“कितनी रहस्यमयी है यह नारी.....जान पड़ता है—पति, घर-बार सब कुछ इसके निकट आकर थोथा हो जाता है, ओढ़ा पड़ जाता है। इसके व्यक्तित्व को, इसके मन-प्राण को, कुछ भी छू पाता नहीं फिर भी यह हम अनेकों साधारण रमणियों से कुछ भिन्न है, कुछ परे हैं।”

दिन भर घर के अनेकों छोटे मोटे कामों के बीच बसन्ती अनिल की ही बात सोचती रही। उससे न खाया गया और न सोया ही।

श्रीधर ने सुन कर एक साधारण घटना की भांति ही उसे भी लेते हुये कह दिया—“मैं तो पहिले से ऐसी ही कुछ कल्पना कर रहा था।” और वह सो गये।

किन्तु बसन्ती सारी रात ही तड़पती रही। एक और नारी भी सारी रात सो नहीं सकी किन्तु कितनी भिन्न मनोगति रही थी उन दोनों की।

मुक्ति

:: २६ ::

राजनैतिक कैदियों की फांसी जन-साधारण के सम्मुख नहीं होती। उनके मुकदमे भी जन-साधारण के सम्मुख नहीं हुआ करते हैं फिर भी सन्ध्या ने किसी न किसी प्रकार अनिल की फांसी का दृश्य देख सकने की आज्ञा प्राप्त कर ही ली। उसके सामाजिक स्थान ने भी उसे वैसा कर सकने में सहायता दी। न जाने क्यों वह अन्तिम क्षण तक अनिल के श्वास-प्रश्वास गिन लेना चाहती थी। उस दिन सन्ध्या ने विशेष सजावट की..... पहिली बार विवाह के पश्चात् उसने मांग में सिन्दूरी लम्बी पतली रेखा बनाई। “यही आज मेरी मांग में प्रथम और अन्तिम सिन्दूर है।” बिन्दी की शोभा कुछ न्यारी ही थी। किसी प्रकार भी सन्ध्या अपनी सज्जा पूरी नहीं कर पा रही थी। कठिनता से नौ बजे सजावट पूरी हुई और कार द्वारा सन्ध्या जेल पहुँची। मजूमदार पहिले से ही वहाँ थे। जेल के अहाते में चुपचाप एकान्त स्थान में यह फांसी दी जाने वाली थी। सन्ध्या कुर्सी पर बैठ गई, उसके पैर कांप रहे थे, वह खड़ी नहीं रह सकती थी, किसी

प्रकार भी नहीं.....अनिल नंगे पैर, दुबला पतला, सुन्दर युवक अनिल चला आ रहा था। बस, सन्ध्या चेतनाहीन हो गई। अनिल सन्ध्या की ओर देख कर मुस्कराया, पर सन्ध्या वहां थी ही कहां ?

जिस समय मजूमदार ने कन्धा हिला कर कहा—“सन्ध्या ! डर गई हो क्या ? अब तो शव भी हटा लिया गया। घर चलो, मैं तो पहिले ही कहता था कि वहां न चलो। फांसी का क्या देखोगी, पर तुम्हारी ज़िद।”

सन्ध्या ने कुछ भी न कहा, केवल लड़खड़ाते पैरों से उठ खड़ी हुई। मजूमदार सारे रास्ते कुछ न कुछ कहते गये—पर सन्ध्या अन्य-मनस्क थी। मजूमदार समझे डर गई है। उन्होंने भी विशेष छेड़ा नहीं.....। दूसरे दिन जेल विज़िटर की हैसियत से जब सन्ध्या स्त्रियों की जेल में गई और आज्ञा न होते हुये भी धन-बल से भाभी के सम्मुख जा पहुँची तो वह सुन्दर तेजपूर्ण स्त्री सिर झुकाये बैठी थी। उसका कमरा असह्य गर्मी से तप रहा था, किन्तु वह शान्त थी। उसके चारों ओर कड़ा पहरा था—असह्य गर्मी में कमरे के भीतर तो सन्ध्या न जा सकी। भाभी उसे देखकर द्वार पर आ गई, पहरेदार कुछ खिसक गया था। सन्ध्या ने मन ही मन उस तेजस्विनी नारी मूर्ति को प्रणाम किया और धीमे से स्वर में कहा—“अनिल कल अमर यात्रा कर गया।”

भाभी ने शान्तिपूर्वक संयत स्वर में कहा—“सो मैं जानती हूँ।”

“सो कैसे ?”

“प्रतिक्षण यही सुनने की प्रतीक्षा तो करती रहती हूँ।”

“ओह”, भाभी फिर भी संयत थी जैसी की तैसी। सन्ध्या आंसुओं, ठण्डी सांसों और ऐसी ही अन्य बहुत सी चीज़ों को देखने की आशा लेकर आई थी, किन्तु यह शान्त नारी मानो उन सबसे

बहुत परे है, दूर है, पृथक है। इसका जग मानो कुछ ऐसे स्थान पर बसा है, जहां तक यह सब कुछ पहुँच पाता ही नहीं है।

“यहां तो बहुत कष्ट होगा।”

“कुछ भी तो नहीं, नारायण की सब दया है।”

सन्ध्या भेंप गई—कष्ट की चर्चा इन लोगों से करना मानो इनका अपमान करना है—यह सन्ध्या जानती थी।

“उड़ना चाहती हैं?”

“छो”, कहने को कुछ भी शेष न था। सन्ध्या ने चुपचाप प्रस्थान किया। भाभी फिर उसी प्रकार सिर नीचा किये झुलसते हुए कमरे में जाकर बैठ गई।

सन्ध्या खो गई, बुरी तरह खो गई। घर आ कर सन्ध्या आज बहुत दिनों बाद अपने पुराने कमरे में जाकर बैठी। बैठते ही उसकी दृष्टि सम्मुख लटकी हुई अपने पति की पहिली स्त्री के रङ्गीन तैल चित्र पर जा पड़ी—“कहां? यह तो भाभी है भाभी.....वारूणी मजूमदार.....भाभी.....क्रान्तिकारिणी..... भाभी..... डी० एस० पी० की पत्नी.....पति परित्यक्ता.....गृह त्यागिनी क्रान्ति की अग्रदूत.....भाभी.....” सन्ध्या का मस्तिष्क खौलने सा लगा “..... तब.....तब क्या वह भाभी है.....क्या वह वारूणी है.....अवश्य.....तब ही तो उसने योगेश की प्राणों पर खेल कर, अनिल के व्यंग वाण सह कर, साधियों का अविश्वास झेल कर भी रक्षा की.....वह.....वह.....नहीं..... नहीं ऐसा.....नहीं हो सकता.....नहीं, कभी भी नहीं हो सकता वह वारूणी नहीं है.....नहीं है.....नहीं है।” वह चीख उठी—पर ध्वनि गूँज कर लौट आई।

रात को क्लब में सन्ध्या खिलखिला कर अकारण ही हस पड़ती थी। सब कह रहे थे—आज सन्ध्या बहुत ही अधिक प्रसन्न है। सबके कान बचा कर डा० क्रिया गजन ने तो सन्ध्या के कान में कहा भी—“क्यों, अनिल की मृत्यु पर बहुत प्रसन्न हो क्या? सदा के लिये कण्टक मिटा। छी:।”

सन्ध्या ने खिलखिला कर कहा—“क्या बुरा है, प्रसन्न भी न होऊँ.....मुक्ति पाकर कौन प्रसन्न नहीं होता बहिन।”

“छी:।”

“स्वागत।” कहा सन्ध्या ने।

आज वह अपने आप को भूल जाना चाहती थी, सर्वथा भूल जाना। आज मजूमदार भी साथ ही क्लब आये थे, किन्तु सन्ध्या उनसे दूर ही दूर रही। सान्याल ने आकर पूछा—“अब तबियत कैसी है?”

“क्यों क्या सदा बीमार रहती हूँ?” खिलखिला कर सन्ध्या ने उत्तर दिया। सदा की खिली सन्ध्या की खिलखिलाहट शायद उसके भीतर की भयङ्कर पीड़ा को, समाधिक पीड़ा को दबा गई। उसके हृदय की तीव्र जलन बह गई उसकी हँसी की तीव्रता में, उसके नाद में, उसकी गड़गड़ाहट में। सबने समझा कि सन्ध्या आज प्रसन्नता से फूली नहीं समाती, किन्तु स्वयं सन्ध्या डूबी जा रही थी—अपनी ही कृतिम हँसी में, उसकी भयङ्कर ध्वनि में। मनुष्य अपने वास्तविक मग्न स्वरूप को सर्वाधिक सफलता पूर्वक तो हँसी में ही छिपा पाता है।

घर पहुँचने पर मजूमदार ने कहा—“सन्ध्या आज तो बढ़ी प्रसन्न जान पड़ती हो।”

“हां, तुम्हारी पदोज्ञाति जो हुई है।” सन्ध्या ने व्यङ्ग्य से कहा।

“सो ही क्या तुम्हारी प्रसन्नता का कारण है ?”

“मेरी ? नहीं सो तो शायद इन देवी जी के हर्ष का कारण हो सकता था ।” कह कर सन्ध्या ने वारूणी के चित्र की ओर इङ्गित कर दिया ।

मजूमदार ने अंगुली का अनुसरण करके देखा वारूणी के चित्र को । अतुलनीय सुन्दरी मुस्करा रही थी । देवी के शुभ वरदान की सी प्रतिमा मजूमदार को आज नवीन ही सी जान पड़ी, फिर भी उसने समझौते के से भाव से कहा—“सन्ध्या ! तुम्हें क्या मेरी उन्नति से प्रसन्नता नहीं है ?”

“शायद नहीं, खून से रँगें तुम्हारे हाथ मुझे घृणित दीख पड़ते हैं कापुरुष ! तुम्हारी वीरता पर प्रसन्न होकर तुम्हारी कानूनी पत्नी फूली न समाती हो सो बात नहीं है, वरन् तुम्हारी कायरता की लज्जा को धो सने योग्य पर्याप्त मात्रा में आंखों में पानी न पा सकने के कारण ही उस लज्जा को दीनता को कृत्रिम हँसी से ढक देना भर ही उसके हिस्से में आया है ।”

“तुम्हारी समझ से यह सब मेरी कायरता ही है । सरकारों मान पदक और प्रशंसा यह सब मेरी कायरता के प्रमाण हैं ?

“सच ही, वीरता का प्रमाण था उस दुबले-पतले युवक की फाँसी के तख्ते में नीचे खड़े होकर भी होंठों पर खेलने वाली मुस्कान वीरता का प्रमाण है । तुम्हारी परित्यक्ता पत्नी के प्राणों की बाज़ी लगा कर भी स्वतन्त्रतार्थ किये हुए बलिदान... .. त्याग जानते हो..... ।”

“क्या ? कौन ??.....भाभी वह.... .क्रान्ति..... के नाम पर खून करवाने वाली डाकू सरदारिनी.... . वारूणी नहीं नहीं.....सन्ध्या मुझे ठगो नहीं..... तुम यह क्या कह

रही हो ? तब क्या सचमुच वह मरी नहीं। ओह ! तब क्या यह उसकी ही जीत होती है। ओह ! क्या मैं.....मैं..... नहीं, वह कभी नहीं हो सकती.....सचमुच सन्ध्या कह दो तुम यूँ ही झूठ कह रही थी..... सन्ध्या.....।”

पागलों की तरह कहने लगे योगेश मजूमदार ।

“ठीक ही कहती हूँ योगेश बाबू, सामने टँगी हुई तस्वीर की ओर देखो, आँखें खोल कर देखो मैं चित्र देख कर ही जिसे पहिचान पाई हूँ, वर्षों पीतल का दावा करके भी उसे तुम पहिचान पाये नहीं..... भई वाह। लेकिन अब उसे परनी न मानना नहीं.....नौकरी ही छिन जायेगी। उन्नति का तो प्रश्न ही नहीं रह जायेगा। ठीक है ना.....आपको तो केवल मात्र पदोन्नति ही चाहिये। वही तो आपको प्यारी भी है।”

मजूमदार का सिर झुक गया। सच ही मैं उसे पहिचान न सका वही वही तो है। कुछ दुबली हो गई है। सहज कोमलता के स्थान पर मुख पर कुछ दृढ़ता, कुछ शुष्कता अवश्य आ गई है, किन्तु इतने से ही क्या मुझे उसे पहचानना नहीं था। मजूमदार का जी चाहा कि ज़ोर से सिर धुन डाले, चीख-चीख कर रो उठे, किन्तु सम्मुख बैठी स्त्री अब भी उसकी ओर घूर रही थी। समय ठीक जानकर सन्ध्या ने कहा—“उसे अवश्य फाँसी दिलवा दो और फिर अपने आफ़िसर को बता देना कि वह तुम्हारी परनी है, खूब इनाम मिलेगा। भरपूर पदोन्नति होगी.....क्यों ठीक है ना ?”

मजूमदार की सुनने की शक्ति शायद पहिले ही चुक गई थी। वह एकटक दीवार पर लटकी हुई तस्वीर की ओर देख रहे थे। उस रात दोनों ही सो न सके, रो भी न सके, फिर भी जान पड़ता था कि दोनों के ही दिल भरे-भरे थे। दोनों ही असह्य वेदना से तड़फ रहे थे—

फिर भी दोनों ही चुप थे, मौन थे और थे गुम सुम । सूर्य की प्रथम किरणों ने दोनों को जगाने की विवश किया । मन ही मन कुछ स्कीम सी बनाते हुये डूबते उतराते हुये योगेश बिना चाय पिये हुये ही एस० पी० साहब के बंगले की ओर चल दिये । सन्ध्या का मन अलसा रहा था—नहाने-खाने को चित्त ही नहीं करता था । उसने अनिल का चित्र निकाल कर देखा, रख दिया । फिर निकाला—फिर देखा और फिर रख दिया । दो बार जेल जाने का विचार किया, पर आज तो विज़िटिंग डे था नहीं, फिर बैठ गई—टहलने लगी और फिर लेट गई । किसी प्रकार भी चित्त शान्त नहीं हो पाता था, कुछ काम भी नहीं शुरू रहा था । घर का भी कुछ काम न था, वहां तो सदा वह सराय की तरह रही थी ।

चिर-निराश

:: ३० ::

“बसन्ती बहिन ! मेरे मर जाने पर भी कोई आँख आंसू की बूंदें गिरायेगी नहीं, अतः मेरे मरने और जीने के बीच मेद भी तो थोड़ा सा ही है ना ?”

“ऐसी बात नहीं कहा करते, सन्ध्या रानी । ईश्वर तुम्हें शीघ्र ही स्वस्थ करें । अनिल चला गया—तुम ऐसी बातें कहती हो । अब चिर दुःखिनी, चिर रोगिणी बहिन को सब मिलकर यों तो न

सताओ। एक दिन अचानक ही तुम सब मेरे दुःखभरे जगत् में आये—
उसे सजाया, बनाया, जगाया। जब मुझे भी विश्व में कोई अपना
दीख पड़ने लगा, कुछ आनन्द आने लगा तो सब एक बारगी ही नाता
तोड़ने लगे हो।”

बसन्ती की आँखों से सचमुच दो बूंद आँसू चू पड़े। सचमुच
अनिल की मृत्यु के पश्चात् बसन्ती मन-प्राण से अत्यन्त दुःखी हो
उठी थी। उसके मुख की हल्की हंसी तक छिन गई थी। इधर पन्द्रह
बीस दिन से सन्ध्या भी रोगिणी है। डाक्टर कहते हैं— एक प्रकार के
राज्यक्षमा का बड़ा ही भयङ्कर आक्रमण है। उधर मजूमदार सन्ध्या
की ओर से सर्वथा दासीन होकर “भाभी” के बचाने की हर प्रकार
से कोशिश कर रहे हैं। समय-असमय बसन्ती ही सन्ध्या के निकट
आकर बैठ जाया करती है। सन्ध्या को इससे सान्त्वना तो नहीं
होती, किन्तु वह क्षणिक हंस-बोल अवश्य लेती है।

“बसन्ती ! अनिल का पवित्र दृढ़ हाथ तेरे बच्चों के सिर पर
अनेकों बार फिरा है। तेरे बच्चे उसी के पथ पर चल सकें, यही मेरा
आशीर्वाद, जब वह वय प्राप्त हों तो उन्हें सुना देना। उनकी मौसी
इससे अधिक सुन्दर और कोई आशीर्वाद जानती ही नहीं है।”

“तुम अनिल की इतनी अधिक भक्ति भाव से पूजा करती थी,
यह तो मैंने किसी दिन नहीं जाना था सन्ध्या।”

उत्तर में सन्ध्या केवल मुस्करा दी। मन ही मन उसने कहा
अनिल मेरे लिये क्या था यह तो विश्व भर में कोई भी नहीं जानता।
शायद स्वयं मैं भी नहीं जानती, तुम कैसे जान पाओगी।

“सचमुच ही बहिन, जिस समय वह सरल हृदय, भोला व्यक्ति
याद आता है तो जो चाहता है, इन जालिमों के मुँह नोच डालूँ।
वह क्या था, यह मेरे सिवाय कौन जानेगा।”

